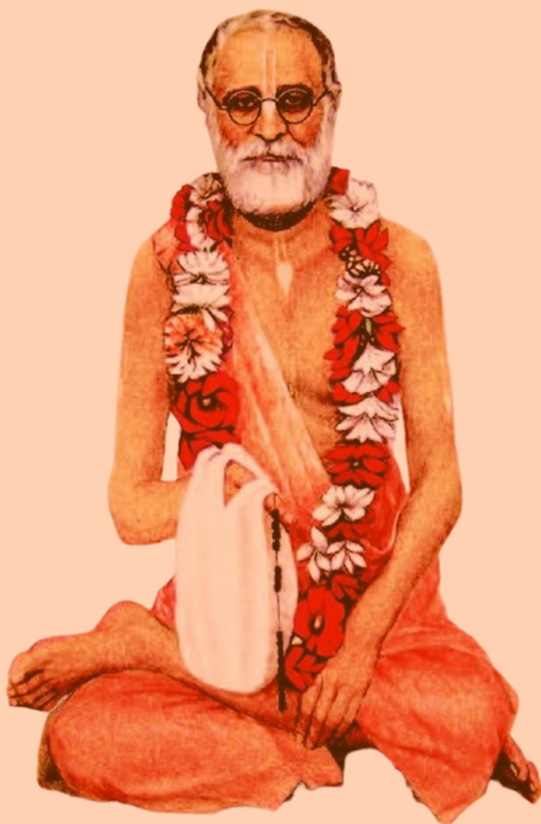
श्रील प्रभुपादजीका उपदेशामृत

(प्रथम भाग)

भक्ति-संबंधी सभी प्रश्नों का समाधान



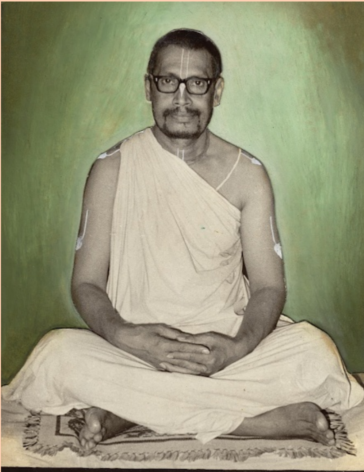
श्रीभक्तिप्रज्ञान गौड़ीय वेदान्त विद्यापीठ प्रकाशन
हेसरघट्टा, बेंगलुरु-560088

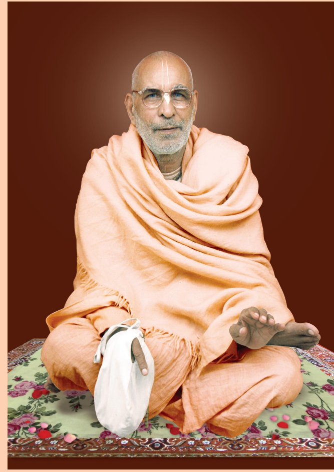




नित्य–लीला–प्रविष्ट
ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशत
श्रीश्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव
गोस्वामी महाराज

नित्य–लीला–प्रविष्ट
ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशत
श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त
स्वामी महाराज





नित्य–लीला–प्रविष्ट
ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशत
श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त वामन
गोस्वामी महाराज

नित्य–लीला–प्रविष्ट
ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशत
श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण
गोस्वामी महाराज

श्रील प्रभुपादजीका उपदेशामृत

यह पुस्तक पढ़ें और पाएं

- आपके भक्ति-संबंधी सभी प्रश्नों का समाधान!
- दिव्य ज्ञान और मार्गदर्शन
- श्रील प्रभुपाद के अद्भुत उपदेशों का लाभ



श्रीभक्तिप्रज्ञान गौड़ीय वेदान्त विद्यापीठ प्रकाशन
हेसरघट्टा, बेंगलुरु-560088

प्रकाशकः श्रीपाद भक्तिवेदान्त दण्डी महाराज, हेसरघट्टा, बेंगलुरु–560088
प्रकाशन दिनांकः नवम्बर 2, 2024, शनिवार—अन्नकूट, श्रीगोवर्धन पूजा। गो पूजा। श्रील रसिकानन्द प्रभुजी का आविर्भाव। श्री बलि महाराज की पूजा।
हिंदी से अंग्रेजी अनुवादः भक्तिवेदान्त विष्णुदैवत स्वामी
संशोधनः (1) श्री केशव प्रभु (यूएसए) (2) श्रीपाद भक्तिवेदान्त दण्डी महाराज

पुस्तक निम्नलिखित मंदिरों और उपदेश केंद्रों से उपलब्ध है:

(1) श्रीरंगनाथ गौड़ीय मठ, हेसरघट्टा, बेंगलुरु–560088
मोबाइलः 9021625228, 6369229219
ईमेलः bvdandi@gmail.com, daamodhar.srgm@gmail.com

(2) आनंद धाम गौड़ीय आश्रम, कैमार वन, संत कॉलोनी, परिक्रमा मार्ग, वृन्दावन–281121 जिलाः मथुरा, मोबाइलः 7017992024
वेबसाइटः https://anandparadise.org/

(3) श्रीलाड़लीलाल गौड़ीय मठ, श्री राधा कृष्ण मंदिर, जगदीश मिष्ठान्न भंडार के सामने, कालियान टोला, गोल दरवाजा, चौक, लखनऊ–226003 मोबाइलः 8630195564, 9839013294

(4) श्रीतिरुमला–तिरूपति गौड़ीय चैरिटेबल ट्रस्ट, 18–2–217, अशोक नगर, तिरूपति–517501 मोबाइलः 9000555556, 9290452747

(5) श्रीश्रीराधाकृष्ण मंदिर, तायप्पा तोटम्, बागलूर रोड, होसुर–635109 जिलाः कृष्णगिरी, तमिलनाडु, मोबाइलः 9788179777

(6) श्रीगौर–नारायण गौड़ीय मठ, बंगाली कैंप, आरएच नं. 3, पोस्टः जवालगेरा, तहसीलः सिंधनूर–584128, जिलाः रायचूर
मोबाइलः 9986065404, 9632395279, 8147941699

(7) श्रीगौरकालीराधाकृष्ण मंदिर, संपर्कः उत्पल मंडल, ग्रामः उत्तर सोनाखाली, पोस्टः नारायणतला, पी.एस.: बासंती, जिलाः दक्षिण 24 परगना, पिनः 743329 मोबाइलः 9609308189

(8) गोकुल भवन, 2/5 मिशन कंपाउंड, कोट्टारम–629703, तमिलनाडु
संपर्कः राधिका दीदी, डॉ. भगवतीकान्त प्रभु
फोनः 7502222794 ईमेलः bkdasa@gmail.com

वेबसाइटः https://www.purebhakti.com/
https://sites.google.com/view/ranganatha
https://bkdasa.synology.me:2011/

हम इस पुस्तक का बंगाली संस्करण उपलब्ध कराने के लिए गौड़ीय समिति के त्रिदण्डी स्वामी श्रीभक्तिविजय श्रीधर महाराज के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं। हमने श्री बांकेबिहारी प्रभु (मथुरा) द्वारा प्रकाशित हिंदी संस्करण और श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ, मथुरा से श्रील गुरुदेव द्वारा प्रकाशित श्री भागवत पत्रिका की पिछली प्रतियों का उपयोग किया है। इसके अलावा, हमने IGVP (अंतर्राष्ट्रीय गौड़ीय वेदान्त प्रकाशन, गोपीनाथ भवन, वृन्दावन) द्वारा बनाई गई शब्दावली का भी उपयोग किया है। हम श्रीमती श्यामरानी दीदी सहित सभी कलाकारों, फोटोग्राफरों, संपादकों, अनुवादकों और योगदान देने वाले समस्त भक्तों के प्रति अपना हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं। हम श्रीआनन्दस्वरूप केलाजी, श्रीगोकुलचन्द्र प्रभुजी, श्रीमती मधु खंडेलवाल दीदी, रॅक्मो प्रेस के श्रीराकेश एवं श्रीमुकेश भार्गवजी द्वारा प्रदत्त सहायता के लिए आभारी हैं, साथ ही इस पुस्तक के प्रकाशन में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सहायता करने वाले सभी भक्तों के प्रति भी कृतज्ञता व्यक्त करते हैं।

चुंचुड़ा मठमें श्रील प्रभुपादका विरहोत्सव

श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिके अन्तर्गत सभी मठोंमें दिसम्बर, १९५९ ई. में जगद्गुरु श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती प्रभुपादकी विरह तिथिका अनुष्ठान विशेष रूपसे सम्पन्न हुआ। श्रीधाम नवद्वीप, मथुरा, गोलोकगंज आदि मठोंमें उक्त विरह महोत्सव बड़ी श्रद्धाके साथ सम्पन्न हुआ।

श्रीउद्धारण गौड़ीय मठ चुंचुड़ामें परमाराध्य श्रील आचार्यदेव स्वयं उपस्थित रहनेके कारण यहाँ उक्त तिथि विशेष रूपमें श्रद्धाके साथ अनुष्ठित हुई। मठरक्षक त्रिदण्डिस्वामी भक्तिवेदान्त वामन महाराजके विशेष आग्रहसे उस दिन मठसेवकों एवं श्रीसमितिके आश्रित भक्तोंने पाठ कीर्तनके पश्चात सर्वप्रथम परमाराध्य श्रील गुरुदेवके श्रीचरणोंमें पुष्पाञ्जलि प्रदानकर श्रील प्रभुपादके चरणोंमें भी पुष्पाञ्जलि प्रदान की। तदनन्तर श्रील प्रभुपादके पटविग्रहकी आरति श्रील गुरुपादपद्मके द्वारा रचित आरति कीर्तनके द्वारा सम्पन्न हुई। शामकी धर्मसभामें श्रीमद्भक्तिवेदान्त वामन महाराजजीने श्रील प्रभुपादकी पत्रावली, प्रबन्धावली तथा गौड़ीय पत्रिकासे श्रील प्रभुपादके उपदेशोंका पाठ किया।

श्रील आचार्यदेवने भाषणके माध्यमसे बड़ा ही उपयोगी उपदेश दिया —"हम प्रति वर्ष इस विशेष तिथिमें विशेष रूपसे हरिकथाका कीर्तन किया करते हैं। श्रील प्रभुपाद सिद्धान्त सरस्वती हरिकीर्तनके मूर्तिमान विग्रह स्वरूप थे। जिन लोगोंने उनका सङ्ग लाभ किया है, उन्होंने निश्चित रूपमें इस विषयकी उपलब्धि की है। हरिकथा-कीर्तन करते समय वे एक मुखमें सहस्रवदन वन जाते थे। हमलोग २४ घण्टेमें एक दिनकी गणना किया करते हैं। **श्रील प्रभुपादके हरिकथा कीर्तनमें एक दिन हजारों दिनोंमें बदल जाता था। भगवत्-कीर्तन करते समय वे कितना आनन्द अनुभव करते, उसकी सीमा भाषामें व्यक्त नहीं की जा सकती। साधारण मनुष्य आहार, निद्रा आदिमें ही केवल आनन्दका अनुभव करते हैं। इसीलिए वे अपने समस्त कर्त्तव्य कर्मोंको छोड़कर आहार, निद्रामें ही प्रमत्त रहते हैं। आहार, निद्राकी अपेक्षा और कोई भी आनन्दमय वस्तु है, इसका उन्हें ज्ञान नहीं। श्रील प्रभुपाद आहार, निद्राकी अपेक्षा हरिकथाके कीर्तनमें ही अधिक आनन्द पाते थे। और इसीलिए वे आहार, निद्राको परित्यागकर भी हरिकथाका कीर्तन करते थे।**"

श्रील आचार्यदेवने अपने प्रवचनमें अविद्या और माया, प्राचीन एवं आधुनिक निर्विशेष विचार, इतिहास और तत्त्ववस्तु एक नहीं, जीवोंका कल्याण करने में श्रील सरस्वती ठाकुरका अवदान, विभिन्न दार्शनिक विचारोंका तारतम्य तथा परतत्त्वका एकत्व आदिके सम्बन्धमें प्रभुपादकी शिक्षाके सम्बन्धमें विशेष रूपसे विवेचन किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने परतत्त्वकी त्रिविध प्रतीतियाँ ब्रह्म, परमात्मा एवं भगवान्, मायावश्य ईश्वरवाद, अचिन्त्य शक्तिमान श्रीकृष्ण, स्वयं-भगवान् श्रीकृष्णकी अचिन्त्यलीला, श्रीकृष्णलीलाका नित्यत्व, जीवोंका नित्यत्व आदि विषयोंपर भी गम्भीर तत्त्वपूर्ण विचार व्यक्त किया।

श्रील प्रभुपाद का अवदान

(‘जैवधर्म’ ग्रंथ के ‘प्रस्तावना’ से उद्धृत)

(ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशत श्रीश्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराज)

श्रील ठाकुर भक्तिविनोदने समग्र विश्वमें श्रीचैतन्यमहाप्रभु द्वारा प्रकटित धर्म-प्रचारकके मूल सेनापतिके रूपमें जिस महापुरुषको इस जगतीतल पर आविर्भूत कराया है, वे मदीय **गुरुपादपद्म जगद्गुरु ॐ विष्णुपाद परमहंसकुल चूडामणि अष्टोत्तरशत श्री श्रीमद्भक्ति सिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी ठाकुरके** रूपमें समग्र विश्वमें सुपरिचित हैं। इन महापुरुषको जगत्‌में आविर्भूत कराना—श्रीमद्भक्तिविनोद ठाकुरकी एक अतुलनीय अभिनव कीर्ति है। साधु-वैष्णव समाज उन्हें संक्षेपमें ‘**श्रील प्रभुपाद**’ कहकर ही गौरव ज्ञापन करता है। मैं भी भविष्यमें उक्त परममुक्त महापुरुषके नामके स्थलपर ‘श्रील प्रभुपाद’ का उल्लेख करूँगा।

श्रील प्रभुपादने श्रील भक्तिविनोद ठाकुरके पुत्रके रूपमें या अन्वय रूपमें, यहाँ तक कि पारम्पर्य रूपमें आविर्भूत होकर समग्र विश्वमें श्रीमन् महाप्रभु श्रीचैतन्यदेव द्वारा आचरित और प्रचारित श्रीमाध्व गौड़ीय वैष्णवधर्मकी अत्युज्ज्वल पताका उत्तोलन करके धर्मराज्यका प्रभूत कल्याण और उन्नति-साधन किया है। अमेरिका, इंग्लैण्ड, जर्मनी, फ्रांस, स्वीडन, स्विटजरलैण्ड और बर्मा आदि सुदूर पश्चिमी और पूर्वी देशसमूह भी इन महापुरुषकी कृपासे वञ्चित नहीं हुए हैं। सारे भारतवर्ष और भारतके बाहर सारे विश्वमें चौंसठ प्रचारकेन्द्र—गौड़ीय मठ स्थापित कर श्रीचैतन्यवाणीका प्रचार किया था। साथ ही उन्होंने श्रील भक्तिविनोद ठाकुरके सारे ग्रन्थोंका प्रचार करके जगत् में अतुलनीय कीर्त्ति स्थापित की है। कालके प्रभावसे अर्थात् कलिकी प्रबलतासे गौड़ीय वैष्णव धर्ममें नाना प्रकारके असदाचार-कदाचार, असिद्धान्त-कुसिद्धान्त आदिका प्रवेश हो जानेके कारण तेरह अपसम्प्रदाय निकल पड़े थे। ये तेरह अपसम्प्रदाय हैं—

आउल बाउल कर्त्ताभजा नेड़ा दर्वेश साईं।
सहजिया सखीभेकी स्मार्त्त जाति गोसाईं॥
अतिवाड़ी चूड़ाधारी गौराङ्गनागरी।
तोता कहे ए तेरह सङ्ग नाहि करि॥

श्रील प्रभुपाद द्वारा श्रील भक्तिविनोद ठाकुरके ग्रन्थोंका प्रकाश और प्रचार होनेसे पूर्वोक्त अपसम्प्रदायोंकी अपचेष्टाओंका प्रचुर परिमाणमें ह्रास हुआ है। फिर भी दुःखका विषय है कि इतना होनेपर भी कलिके प्रभावसे आहार-विहार और ‘बाँचा पाड़ा’ अर्थात् जीवनबीमा (life insure) ही किसी-किसी धर्म-सम्प्रदायके प्रचारके प्रधान विषय हो गये हैं। वास्तवमें यह सब पशुवृत्तिका ही नामान्तर या पाशविक अनुशीलनका प्रसारमात्र है। हम पहले ही ऐसा कह आये हैं।

श्रील प्रभुपादकी आरती

(श्रील गुरुदेव द्वारा लिखित 'आचार्य केसरी श्रीश्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी —तत्त्वसिद्धान्त और शिक्षा-समन्वित जीवनचरित्र' से उद्धृत)

जय जय प्रभुपादेर आरति नेहारी।
योग मायापुर-नित्य सेवा-दानकारी॥
सर्वत्र प्रचार-धूप सौरभ मनोहर।
बद्ध मुक्त अलिकूल मुग्ध चराचर॥
भकति-सिद्धान्त-दीप जालिया जगते।
पञ्चरस-सेवा-शिखा प्रदीप्त ताहाते॥
पञ्च महाद्वीप यथा पञ्च महाज्योतिः।
त्रिलोक-तिमिर-नाशे अविद्या दुर्मति॥
भकति विनोद-धारा जल शङ्ख-धार।
निरवधि बहे ताहा रोध नाहि आर॥
सर्ववाद्यमयी घन्टा बाजे सर्वकाल।
बृहत्मृदङ्ग वाद्य परम रसाल॥
विशाल ललाटे शोभे तिलक उज्ज्वल।
गल देशे तुलसी माला करे झलमल॥
आजानुलम्बित बाहू दीर्घ कलेवर।
तप्त काञ्चन-बरण परम सुन्दर ॥
ललित-लावण्य मुखे स्नेहभरा हासी।
अङ्ग कान्ति शोभे जैछे नित्य पूर्ण शशी॥
यति धर्मे परिधाने अरुण वसन।
मुक्त कैल मेघावृत गौड़ीय गगन॥
भकति-कुसुमे कत कुञ्ज विरचित।
सौन्दर्ये-सौरभे तार विश्व आमोदित॥
सेवादर्शे नरहरि चामर ढूलाय।
केशव अति आनन्दे निराजन गाय॥

परमाराध्य श्रील गुरुदेवने अपने आराध्य गुरुदेव श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती प्रभुपादकी एक सर्वाङ्ग सुन्दर आरतिके पदकी रचना की है।

जब इसका श्रीगौड़ीय पत्रिकामें प्रकाशन हुआ, तब उसे पढ़कर श्रील प्रभुपादके सारे शिष्य, प्रशिष्य आनन्दसे झूम उठे। सभी लोग प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूपमें धन्यवाद देने लगे। यहाँ तक कि श्रीगौड़ीय मठोंके आचार्यगण अपनी-अपनी पत्रिकाओंमें श्रील गुरुदेवके नामको हटाकर प्रकाशन करनेका लोभ संवरण नहीं कर सके और तबसे श्रील प्रभुपादकी आरतिके समय श्रील गुरुदेवके द्वारा रचित इस आरति-कीर्तनका प्रचलन सर्वत्र हो गया।

जगद्गुरु श्रील प्रभुपादके आश्रित प्रमुख त्रिदण्डि संन्यासियोंमेंसे प्रपूज्यचरण त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिभूदेव श्रौती महाराज अन्यतम थे। वे वेद, उपनिषद्, पुराण, श्रीमद्भागवत एवं गीता आदि शास्त्रोंमें पारङ्गत थे। सारस्वत

गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदायमें इनका बड़ा ही आदर था। उन्होंने प्रभुपादकी आरतिको पढ़ते ही अपने झाड़ग्राम मेदिनीपुर स्थित मठसे तत्क्षणात् श्रीधाम नवद्वीपमें श्रील गुरुदेवके पास उपस्थित होकर उन्हें इसके लिए बधायी दी—

"महाराज! बड़े आश्चर्यकी बात है, हमलोग बहुत दिनोंसे गुरुगृहमें एक साथ रहते आये हैं, किन्तु निकट रहकर भी आज तक हमलोग आपको पहचान नहीं पाये। आपके हृदयमें इतनी गम्भीर गुरुनिष्ठा-विशुद्ध भक्ति है, अब तक हम इसकी गन्ध भी नहीं पा सके। अब तक हमने आपको प्रजाओंके शासन एवं सांसारिक कार्यों में ही सुदक्ष समझा था, किन्तु हमारी सारी धारणाएँ भूल सिद्ध हो रही हैं। आज सौभाग्यवश आपकी इस अनुपम गुरुनिष्ठा एवं अतुलनीय भक्ति-प्रतिभा हृदयङ्गम कर ऐसा प्रतीत हो रहा है कि आपके हृदयमें श्रील प्रभुपाद स्वयं बैठकर आपके द्वारा शुद्धभक्तिके ऐसे सुन्दर, सुसिद्धान्तपूर्ण भावोंको प्रकाशित कर रहे हैं। आप धन्य हैं। हम आशा करते हैं कि भविष्यमें भी आप ऐसे-ऐसे अपूर्व कीर्तन पदों, स्तव-स्तुतियों, प्रबन्ध-निबन्धोंके द्वारा जगत्का अशेष कल्याण करेंगे।"

यहाँ इस आरतिके कतिपय पदोंके गम्भीर भावोंकी व्याख्या की जा रही है। 'योगमायापुर नित्य सेवादानकारी'—गोलोकके सर्वोच्च प्रकोष्ठका नाम व्रज, वृन्दावन अथवा गोकुल है। उसीके सन्निकट एक और प्रकोष्ठ है, जिसे श्वेतद्वीप या नवद्वीप कहते हैं। इस नवद्वीपधामका हृदयस्थल श्रीधाम मायापुर है, जहाँ श्रीमती राधिकाकी अङ्गकान्ति और अन्तरङ्ग भावोंको अङ्गीकार कर स्वयं व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण श्रीशचीनन्दन गौरहरिके रूपमें अपने नित्य परिकरोंके साथ नाना प्रकारके भावोंका आस्वादन करते हैं। किसी-किसी विरले सौभाग्यवान जीवोंको ही महावदान्य श्रीगौरलीलामें प्रवेश करनेका सौभाग्य होता है। श्रीकृष्णलीलाकी **नयनमञ्जरी** ही श्रीगौरलीलाके **श्रीभक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी ठाकुर** हैं। इनके प्रणाममन्त्रमें इनका सिद्धस्वरूप अन्तर्निहित है—

श्रीवार्षभानवि-देवि-दयिताय कृपाब्धये।
कृष्ण-सम्बन्ध-विज्ञान-दायिने प्रभवे नमः॥

श्रीभक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर कृष्णप्रिया वृषभानुनन्दिनी श्रीमती राधिकाकी परम प्रियसखी, उन्नत उज्ज्वल मधुररसके मूर्तिमान विग्रह श्रीनयनमञ्जरी हैं। उनका आश्रय ग्रहण करनेपर ये करुणावरुणालय श्रीशचीनन्दन गौरहरिकी दुर्लभ नित्यसेवाको प्रदान करते हैं। इसी प्रकार जो लोग श्रद्धापूर्वक श्रीरूपानुग प्रवर श्रील प्रभुपादकी आरति करते हैं या आरति दर्शन करते हैं, ये उन सबको ऐसी दुर्लभ गौरसेवा प्रदान करते हैं।

श्रील प्रभुपादकी यह आरति अनुपम, अलौकिक तथा असाधारण है। तथा अन्य आरतियोंसे सर्वथा विलक्षण है। उन्होंने नवद्वीपके नौ द्वीपोंमें तथा भारत एवं विश्वके कोने-कोनेमें, प्रधान-प्रधान नगरोंमें, पहाड़ों एवं जङ्गलोंके बीचमें सर्वत्र ही अपने शिष्य-प्रशिष्यको, ब्रह्मचारी एवं संन्यासियोंको भेजकर उन स्थानोंमें प्रचारकेन्द्र स्थापनकर शुद्धभक्तिका प्रचार किया है, जिसके

आकर्षक सौरभसे बद्ध और मुक्त सभी प्रकारके जीव आकृष्ट होकर शुद्धभक्तिमें तत्पर हुए हैं और हो रहे हैं। साधारण अर्चनमें प्रथम श्रीविग्रहोंकी धूपसे आरति की जाती है, जिसकी सुगन्ध श्रीमन्दिर तक ही सीमित रहती है, किन्तु शुद्धभक्ति प्रचाररूप धूपकी सुगन्ध सारे विश्वको आमोदित एवं आकृष्ट करती है। इस प्रकार शुद्धभक्ति प्रचाररूप धूपका एक अलौकिक वैशिष्ट्य है। यदि सरस्वती प्रभुपादने विश्वमें शुद्धभक्तिका प्रचार नहीं किया होता, तो सारा विश्व शुद्धभक्ति-लाभसे सर्वथा वञ्चित रहता और इनका कल्याण नहीं होता। पश्चिम बङ्गाल तथा भारतके अन्य प्रान्तोंके लोग भी शुद्धभक्ति अर्थात् रागानुग और विशेषतः रूपानुगभक्तिसे सर्वथा वञ्चित रह जाते। भक्ति प्रचारके लिए इन्होंने भक्तिग्रन्थोंका प्रकाशन एवं विश्व भरमें वितरणकी जो व्यवस्था की है, वह अश्रुतपूर्व एवं अदृष्टपूर्व है। इसीके द्वारा इन्होंने जगत्में भक्तिक्रान्तिकी नयी लहर पैदा कर दी। भारतसे सुदूर प्राच्य एवं पाश्चात्य छोटे-बड़े सभी देशोमें, छोटे-छोटे बालकों, नवयुवकों, नवयुवतियों तथा वृद्धों—सभीको वैदिक संस्कृतिमें रङ्गे हुए, हाथोंमें जापमालिका, अङ्गोंमें तिलक, सिरपर शिखा धारण किये हुए, गलियों-गलियोंमें मृदङ्ग, करतालकी तालपर नृत्य करते हुए, सङ्कीर्तन करते हुए देखा जा सकता है। उन स्थानोंमें श्रीराधाकृष्ण, श्रीगौरनित्यानन्द, श्रीजगन्नाथ-बलदेव-सुभद्रा आदिके विशाल-विशाल श्रीमन्दिर देखे जा सकते हैं। यह सब कुछ इन्हीं महापुरुषका अवदान है।

श्रीविग्रहके अर्चनमें धूपके पश्चात् प्रज्ज्वलित दीपसे आरति उतारी जाती है। इस विशेष अर्चनमें भक्तिसिद्धान्त ही दीप हैं। भक्तिसिद्धान्त दस प्रकारके हैं—(१) आम्नाय वाक्य—गुरु-परम्परागत मान्य वेद आदि शास्त्र ही (श्रीमद्भागवत) सर्वश्रेष्ठ प्रमाण हैं, (२) व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण ही परतत्त्व हैं, (३) वे सर्वशक्तिमान हैं, (४) वे अखिल रसामृतसिन्धु हैं, (५) मुक्त और बद्ध दोनों प्रकारके जीव ही उनके विभिन्नांश तत्त्व हैं, (६) बद्धजीव मायाके अधीन होते हैं, (७) मुक्तजीव मायासे मुक्त होते हैं, (८) चित्-अचित् जगत् श्रीहरिका अचिन्त्यभेदाभेद प्रकाश है, (९) भक्ति ही एकमात्र साधन है और (१०) कृष्णप्रीति ही एकमात्र साध्यवस्तु है। इन दस प्रकारके भक्तिसिद्धान्तरूप जड़ी-बूटियोंका रसनिर्यास ही घृत है, जिससे दीप प्रज्ज्वलित होता है। पाँच प्रकारके स्थायीभाव ही पञ्च महाप्रदीप हैं। इन प्रदीपोंमें शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं मधुर—ये पाँच प्रकारके रस ही पाँच प्रकारकी शिखाएँ हैं।

विभाव, अनुभाव, सात्त्विक और व्यभिचारी—ये उन प्रज्ज्वलित शिखाओंकी किरणें हैं। इस अलौकिक पञ्चशिखा विशिष्ट प्रदीपकी महाज्योतिसे तीनों लोकोंका अज्ञान अथवा अविद्यारूप अन्धकार सदाके लिए दूर हो जाता है। इसके दर्शनसे कृष्ण विमुख जीवोंकी विमुखता दूर हो जाती है। विमुखता ही दुर्मति है और यही अन्धकार है। इस विलक्षण दीपके प्रभावसे यह अविद्या सदाके लिए दूर हो जाती है। वर्तमान युगमें इस दीपको जलाया किसने? इस भक्तिसिद्धान्त दीपको प्रज्ज्वलित किया है—श्रीश्रीलभक्तिसिद्धान्त

सरस्वती ठाकुरने।

(३) धूप और दीपके अनन्तर जलशङ्ख द्वारा आरति होती है। भक्तिका विनोदन ही (श्रील भक्ति विनोद ठाकुर) शङ्ख है। वह शङ्खजल भक्तिभगीरथ भक्तिविनोद ठाकुर द्वारा प्रवाहित रूपानुगभक्तिप्रवाहका निर्मल एवं सुगन्धित जल है। इस शङ्खकी धारा (प्रवाह) तैलधारावत् अविच्छिन्न गतिसे नित्य-निरन्तर प्रवाहित हो रही है एवं भविष्यमें भी प्रवाहित होती रहेगी अर्थात् कभी भी यह भक्तिधारा रुद्ध नहीं होगी। इस जलशङ्खकी धाराके छीटोंसे अखिल विश्वके सौभाग्यवान जीव अभिषिक्त होकर भगवत्-रससे अनुप्लावित होते रहेंगे।

(४) श्रीविग्रह-अर्चनमें घण्टाका बहुत महत्व है। धूप, दीप आदिके द्वारा आरति करते समय घण्टाका बजाना अत्यन्त आवश्यक है। इस विलक्षण आरतिमें सर्ववाद्यमयी घण्टा भी सर्वथा विलक्षण है, जो सदैव नित्यकाल बजता रहता है। वीर्यवती हरिकथा ही यह अलौकिक घण्टा है। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुरका सम्पूर्ण जीवन हरिकथामय रहा है। दूसरे शब्दोंमें श्रील सरस्वती ठाकुर हरिकथाके मूर्तिमान विग्रह थे। पल भरके लिए भी उनकी हरिकथा नहीं रुकती थी। अबोध बालकों, पेड-पौधों तकको भी देखकर इनकी हरिकथा अपने आप प्रवाहित होने लगती थी। उनकी हरिकथा इतनी ओजस्विनी एवं प्रभावशालिनी होती थी कि कोई भी श्रोता साथ-ही-साथ भक्तिसे अनुप्राणित हो जाता था।

अर्चनके साथ कीर्तन होना अत्यन्त आवश्यक है। श्रील जीव गोस्वामीने भक्तिसन्दर्भमें कहा है—***'यद्यप्यन्या भक्ति कलौ कर्त्तव्या तदा कीर्तनाख्या भक्ति संयोगेनैव।'*** अर्थात् यदि कोई भक्तिके अन्य अङ्गोंका अनुशीलन करता है, तो उसे हरिसङ्कीर्तनके सहयोगके साथ ही करना चाहिये अन्यथा कलियुगमें सङ्कीर्तनके अतिरिक्त अकेले साधन किये जानेपर भी फलप्राप्ति नहीं होती। अतः अर्चनके साथ कीर्तन होना अत्यावश्यक है। सङ्कीर्तन भी नाम, रूप, गुण, लीला, कीर्तन आदिके भेदसे विभिन्न प्रकारका होता है। इनमेंसे नामकीर्तन सर्वश्रेष्ठ है—***तार मध्ये सर्वश्रेष्ठ नामसङ्कीर्तन।*** सङ्कीर्तनमें मृदङ्ग वाद्यका होना भी आवश्यक है। श्रील प्रभुपादके द्वारा प्रवर्तित आरतिमें बृहद्-मृदङ्गका योगदान अत्यधिक महत्वपूर्ण है। मुद्रण-यन्त्र ही यह बृहद्-मृदङ्ग है। साधारण मृदङ्गकी ध्वनि बहुत सीमित होती है। किन्तु बृहद्-मृदङ्ग—मुद्रण-यन्त्रसे प्रकाशित भक्तिग्रन्थ विश्वके कोने-कोने में पहुँचकर साधकभक्तोंके हृदयमें प्रवेशकर उन्हें उन्मत्तकर हरिनाम-सङ्कीर्तनमें नृत्य कराने लगता है। इस बृहद्-मृदङ्गकी ध्वनि कभी भी बन्द नहीं होती, सदैव भक्तोंके हृदयमें उदित होकर उन्हें अनुप्राणित करती रहती है। इस बृहद्-मृदङ्गकी स्थापना करनेवाले प्रभुपादकी आरति जययुक्त हो।

परमाराध्यतम श्रील गुरुदेव इस आरति-कीर्त्तनमें ॐ विष्णुपाद श्रीश्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती प्रभुपादके अप्राकृत श्रीअङ्गोंके अलौकिक सौन्दर्यका वर्णन कर रहे हैं—यद्यपि मदीय परमाराध्यतम श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती

प्रभुपाद श्रीमती राधिकाकी परमप्रिय श्रीनयनमञ्जरी हैं, किन्तु इस भौम जगत्में दीनतावश अपना नाम श्रीश्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी प्रकाशकर अपने पूर्व नाम आदि स्वरूपको आच्छादितकर तृणादपि सुनीचका आदर्श दिखलाया है। इनके विशाल ललाटपर उर्ध्वपुण्ड्र तिलक सुशोभित हो रहा है। इनके सुन्दर गलेमें त्रिकण्ठी तुलसीमाला सदैव झलमल-झलमल करती रहती है।

आजानुलम्बित भुजाएँ, सुगठित सुन्दर अङ्ग प्रत्यङ्गयुक्त दीर्घ कलेवर, स्वर्णकान्तिको भी पराभूत करनेवाली श्रीअङ्गकान्ति इनके महापुरुष होनेकी घोषणा कर रही हैं। क्योंकि ये सब महापुरुषोंके विशेष लक्षण हैं। इनके ललित लावण्य अधरोंमें स्नेहकी मुस्कान सदा खेलती रहती है। उनके यतिधर्मके अनुसार अङ्गीकार किये हुए डोर-कौपीन, बहिर्वास एवं उत्तरीय आदि गैरिक वस्त्रोंकी उज्ज्वल ज्योतिने श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर एवं बलदेव विद्याभूषणके पश्चात् गौड़ीयगगनमें छाये हुए मेघोंके द्वारा उत्पन्न घने अन्धकारको समाप्त कर दिया है। इन्होंने देश-विदेशमें सर्वत्र ही शुद्धभक्तिकेन्द्रोंका स्थापन किया है। ये केन्द्र मानो भक्तिलताके पुष्पोंसे निर्मित श्रीराधाकृष्णके विलासकुञ्ज हैं, जिसके सौन्दर्य एवं सुगन्धसे सारा विश्व अमोदित हो रहा है। श्रीमायापुरधाममें श्रील प्रभुपादकी यह आरति नित्यकाल विराजमान है। उनके परमप्रिय नरहरि सेवाविग्रह प्रभु श्रील प्रभुपादको चामर वीजन कर रहे हैं। यह श्रीकेशव आनन्दमें विभोर आरति-कीर्तन कर रहा है।

श्रील गुरुदेवके द्वारा रचित इस सुललित आरति-कीर्तनका पद आज सर्वत्र गौड़ीय वैष्णवजन प्रीतिपूर्वक गान करते हैं।

श्रील प्रभुपाद-वन्दना

नमः ॐ विष्णुपादाय कृष्ण-प्रेष्ठाय भूतले।
श्रीमते भक्तिसिद्धान्त-सरस्वतीति-नामिने॥
श्रीवार्षभानवी-देवी-दयिताय कृपाब्धये।
कृष्ण-सम्बन्ध-विज्ञान-दायिने प्रभवे नमः॥
माधुर्योज्ज्वल-प्रेमाढ्य- श्रीरूपानुग-भक्तिद।
श्रीगौर-करुणा-शक्ति-विग्रहाय नमोऽस्तु ते॥
नमस्ते गौर-वाणी-श्रीमूर्तये दीन-तारिणे।
रूपानुग-विरुद्धाऽपसिद्धान्त-ध्वान्त-हारिणे॥

कृष्ण-सम्बन्ध-विज्ञानके दाता, कृष्णके प्रिय, श्रीवार्षभानवीदेवी राधिकाके प्रियपात्र, इस भूतलपर अवतीर्ण **ॐ विष्णुपाद श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी** नामक कृपा-वारिधि प्रभुकी वन्दना करता हूँ। जो माधुर्यके द्वारा उज्ज्वलीकृत, प्रेमपूर्ण, श्रीरूपानुग-भक्ति-दानकारी तथा श्रीगौरांग-महाप्रभुकी करुणा-शक्तिके विग्रह-स्वरूप हैं, उन सरस्वती ठाकुरको मैं पुनः-पुनः नमस्कार करता हैं। जो गौर-वाणीके श्रीमूर्ति-स्वरूप, दीनजनोंके त्राण-कर्ता और श्रीरूपानुग विचारके विरुद्ध कुसिद्धान्त-रूप अन्धकारका विनाश करने वाले हैं, उन श्रील सरस्वती ठाकुरको नमस्कार करता हूँ।

श्रील भक्तिमयूख भागवत गोस्वामी महाराज



नित्य-लीला-प्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशत श्रीश्रीमद्भक्तिमयूख भागवत गोस्वामी महाराज



नित्य-लीला-प्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशत श्रीश्रीमद्भक्तिविज्ञान भारती गोस्वामी महाराज

[08 जनवरी, 2024 भारत के वृन्दावन में श्रील भक्तिमयूख भागवत गोस्वामी महाराज का तिरोभाव-दिवस था। श्रील भक्तिविज्ञान भारती गोस्वामी महाराज द्वारा 19 दिसंबर 2014 और 25 दिसंबर 2016 को उसी तिथि के उपलक्ष में परिवेषित कथा का भावानुवाद निम्नलिखित हैं। संपादकों का योगदान—सामग्री के प्रवाह को सुविधाजनक बनाने के लिए वर्गाकार कोष्ठकों में अतिरिक्त पाठ शामिल किया गया है।] आज विशेष तिथि है। यह श्रील भक्तिमयूख भागवत गोस्वामी महाराज की तिरोभाव तिथि है। श्रील भक्तिभूदेव श्रौति गोस्वामी महाराज से संन्यास लेने से पहले उनका नाम रूपविलास दास था। उनका साहित्यिक योगदान मठ में शामिल होने के बाद, श्रीरूपविलास दास ने संपादकीय विभाग में सेवा की। उन्होंने श्रील प्रभुपाद के तिरोभाव के उपरांत **श्रील प्रभुपाद के 'उपदेशामृत—प्रश्न और उत्तर' को दो खंडों में संपादित और प्रकाशित किया। इस पुस्तक को पढ़ने से हर व्यक्ति को अपने सभी [भक्ति-संबंधी] प्रश्नों के उत्तर मिल जाएंगे।**

उन्होंने श्रील नरोत्तम दास ठाकुर की 'प्रार्थना' और 'श्री प्रेम-भक्ति चंद्रिका' पर श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की टीका प्रकाशित की। उन्होंने 'मंत्रार्थ दीपिका' (मंत्रों की व्याख्या), 'श्री चैतन्य-चरितामृत', 'वेदान्त-सूत्र', 'गुरु-सेवा' और कई अन्य पुस्तकें भी प्रकाशित कीं। उन्होंने हमारे मुखपत्र

'चैतन्य-वाणी' के लिए लेखों की कई श्रृंखलाएँ भी लिखीं।

श्रील प्रभुपाद में निष्ठा

श्रील प्रभुपाद की प्रत्यक्ष उपस्थिति के दौरान, यदि ब्रह्मचारियों के परिवार के कोई सदस्य उन्हें वापस घर ले जाने के लिए मठ में आते, तो उन्हें श्रीरूपविलास दास के पास भेजा जाता, जो उन्हें विश्वास दिलाकर समझाते थे [कि 'उनके बेटों के लिए मठ में रहना फायदेमंद है']। जब उनके अपने परिवार के लोग उन्हें लेने आए, तो बाकी लोगों ने कहा, "अगर प्रभुपाद कहते हैं, तो वे वापस जा सकते हैं।" उस समय उन्होंने कहा, "मैं प्रभुपाद का निर्णय स्वीकार करूंगा, लेकिन मैं ऐसा कोई निर्णय स्वीकार नहीं कर सकता जो मुझे उनकी सेवा से दूर रखे।" यह उनकी विशेषता थी। मुझे उनका रुख बेहद उल्लेखनीय लगा।

बाद में, [जब उन्होंने अपना मठ स्थापित किया] श्रील भक्तिमयूख भागवत गोस्वामी महाराज, श्रील प्रभुपाद की सेवा के लिए उनके जन्म स्थान, जगन्नाथ-पुरी स्थित श्रीचैतन्य गौड़ीय मठ में भी अवश्य ही कुछ दान भेजते थे। श्रील प्रभुपाद की सेवा में उनकी ऐसी निष्ठा थी।

अपने निष्कलंक आचरण द्वारा एकचक्रा में गलतफहमी (मिथ्याबोध अथवा वैमनस्य) को दूर करना

नित्यानंद प्रभु की जन्मस्थली—'एकचक्रा' में यह दुष्प्रचार किया गया कि गौड़ीय मठ श्रीनित्यानंद प्रभु की पूजा के विरुद्ध है और इसलिए वह सिद्धान्त (स्थापित शास्त्रीय मतों अथवा तत्त्वों) के विरुद्ध कार्य करता है। लेकिन जब श्रील भागवत महाराज, जो स्वयं एकचक्रा में जन्मे एक ब्राह्मण थे, मंदिर में आये, तो उन्होंने अपना ऊपरी वस्त्र हटाकर अर्चविग्रह को साष्टांग दंडवत् प्रणाम किया और नित्यानंद प्रभु का महिमामंडन करते हुए उनका प्रणाम मंत्र कहा। पुजारी यह [स्नेहपूर्ण और श्रद्धापूर्ण भाव] देखकर चकित रह गये। उन्होंने सोचा, "यहाँ जो लोग श्रीनित्यानंद की पूजा करते हैं, वे भी इस तरह से प्रणाम नहीं करते! यह कैसे कहा जा सकता है कि गौड़ीय मठ नित्यानंद प्रभु का सम्मान नहीं करता है?" श्रील भागवत महाराज ने एकचक्रा के नजदीक एक मठ भी स्थापित किया। धीरे-धीरे, यह ग़लतफ़हमी श्रील भागवत महाराज और श्रील प्रभुपाद के अन्य शिष्यों के त्रुटिहीन उपदेश (आचरण) से दूर हो गई।

एक सेवा अवसर

मुझे श्रील भागवत महाराज की सेवा करने का अवसर केवल एक

बार मिला। वे अपनी वृद्धावस्था में मायापुर की यात्रा पर हमारे मठ में रुके थे। वह दर्शन के लिए योगपीठ, श्रीचैतन्य मठ आदि स्थानों पर गए। श्रील भक्तिकुसुम श्रमण गोस्वामी महाराज श्रीचैतन्य गौड़ीय मठ में 'पत्रिका-विभाग' में कार्यरत थे, इसलिए श्रील भागवत महाराज ने उनके साथ भगवान् का प्रसाद स्वीकार किया। जो कुछ भी भगवद्-प्रसाद परोसा जाता था, उसे चखना उसका नियम था। हमने उनके लिए असम से लाए हुए एक किस्म के चावल का प्रसाद भी तैयार किया था, जो बहुत स्वादिष्ट और बेहतरीन गुणवत्ता वाला था। उन्होंने उस चावल-प्रसाद की बहुत तारीफ की और पूछा, "यह आपको कहाँ से मिला? मैंने पहले कभी ऐसा चावल-प्रसाद नहीं चखा!"

वृन्दावन की यात्रा के दौरान वे हमारे मठ में रुके थे और प्रतिदिन दर्शन के लिए वहाँ से जाते थे।

वैष्णवों की दोनों ही तिथियाँ अर्थात् आविर्भाव-दिन और तिरोभाव-दिन समान रूप से महत्वपूर्ण हैं। यहाँ तक कि किसी वैष्णव के नाम का स्मरण करना भी उनकी सेवा करने के समान है। और यही हमारे मंगल का कारण बन जाता है। इसीलिए उनकी [आविर्भाव एवं तिरोभाव] तिथियों पर उनका महिमामंडन न करना अपराध है। यदि आप उन वैष्णवों के [पावन चरित्र के] बारे में कुछ भी नहीं जानते तो उनके पवित्र नाम का उच्चारण करने से भी सभी शुभ-फल की [अनायास ही] प्राप्ति हो जाती है।

श्रीगौरजन्मोत्सवके दो-एक दिन बाद श्रील प्रभुपाद उपस्थित समुदायमें अपनी ओजस्विनी कथाका परिवेशन कर रहे थे। प्रसङ्गवशतः उन्होंने श्रीनवद्वीपधामके नौ द्वीपोंमें एक-एक मठ स्थापन, बङ्गाल एवं भारतके विभिन्न प्रसिद्ध नगरोंमें श्रीगौड़ीय मठ और शुद्धभक्तिके प्रचारकेन्द्र तथा मुद्रणयन्त्रको स्थापनाकर उसके माध्यमसे भारतकी विभिन्न भाषाओंमें पारमार्थिक संवाद-पत्र द्वारा सर्वत्र शुद्ध भक्तिसिद्धान्तोंके प्रचारका सङ्कल्प प्रकाश किया। श्रीयुता सरोजवासिनी देवी ऐसा सङ्कल्प जानकर बहुत प्रसन्न हुईं और श्रील प्रभुपादसे बोली—"अभी इस योगपीठमें ही आरतीके समय काँसर-घण्टा बजानेके लिए आवश्यकतानुसार ब्रह्मचारी नहीं हैं, फिर इतने मठोंकी व्यवस्था कैसे सम्पन्न होगी?" उस समय बालक विनोदविहारी पास ही बैठे हुए एकाग्रचित्तसे श्रील प्रभुपादकी हरिकथा सुन रहे थे। **श्रील प्रभुपादने इस बालककी ओर अँगुली द्वारा निर्देश करते हुए कहा—"विनोदविहारी इन सारे मठ एवं प्रचारकेन्द्रोंकी व्यवस्था करेगा।"** यह बात बादमें सत्य हुई। इसी बालकने श्रील प्रभुपादके आशीर्वादसे मूल श्रीगौड़ीय मठके तथा सारे शाखा मठोंका व्यवस्थापक (math superintendent) बनकर बड़े सुचारु रूपसे सबकी व्यवस्था सँभाली। यही नहीं श्रील प्रभुपादके अप्रकट होनेके पश्चात् श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिकी स्थापनाकर सम्पूर्ण भारत एवं विश्वमें गौड़ीय मठों और भक्ति-प्रचारकेन्द्रोंकी स्थापना कर सर्वत्र शुद्धभक्तिका प्रचार किया।

श्रील प्रभुपादजीका उपदेशामृत

प्रश्न 1—कीर्तन क्या सर्वश्रेष्ठ भक्ति अंग है?

उत्तर—भक्तिके जितने अंग हैं, उनमें कृष्णसंकीर्तन ही एकमात्र प्रधान एवं आवश्यक है। श्रीकृष्णसंकीर्तनके द्वारा ही परमार्थ (भक्ति) जीवनमें अग्रसर होनेकी योग्यता प्राप्त होती है। श्रीकृष्णनाम सर्वशक्तिमान हैं। उनमें सर्व इच्छाओंको पूर्ण करनेकी तथा चरमफल कृष्णप्रेम प्रदान करनेकी क्षमता है।

श्रीकृष्णनामके द्वारा हमारी भक्ति के अतिरिक्त समस्त प्रकार क्रियाओं से विरक्ति हो जाएगी तथा समस्त प्रकार की जड़ चिन्ताएँ एवं जड़ धारणाएँ दूर हो जाएँगी। यदि सौभाग्य से हमारी जिह्वापर कृष्णनाम उदित हो जाए, तभी हम जड़ जगत के प्रति अपने कर्तव्य जैसे—समाजसेवा, देशसेवा, माता–पिता की सेवा आदि को त्यागकर सम्पूर्ण रूप से भगवान की सेवा कर सकते हैं तथा तभी हमारी भोग करने की लालसा भी दूर हो सकती है। कृष्ण नाम के द्वारा ही भक्तिमार्गमें आनेवाली समस्त प्रकार की विघ्न–बाधाएँ सहज रूपमें ही दूर हो सकती हैं। यह कृष्णनाम केवल साधन ही नहीं है, अपितु साधनका चरमफल साध्य भी है। ऐसे कृष्णनामको गुरुके आनुगत्यमें पुनः–पुनः श्रद्धापूर्वक उच्चारण करना चाहिए। श्रीकृष्णनामसे समस्त प्रकारके मंगल उदित होते हैं। अतः ऐसे अद्भुत प्रभावशाली श्रीकृष्णनाम के द्वारा ही जीवका कल्याण हो सकता है। एकमात्र कृष्णनाम ही हमें नित्यानन्द–सागरमें डुबा सकता है। यह नाम समस्त रसों का आश्रय है।

श्रीगौरसुन्दर परम उपास्य वस्तु हैं। इस जगत में जितने भी उपास्य हो सकते, ये उन समस्त उपास्यों के भी उपास्य हैं। स्वयं कृष्ण होकर भी श्रीचैतन्यमहाप्रभु ने भागवत–धर्म का आचरण कर जगत वासियों को दिखाया कि श्रीकृष्ण–संकीर्तन ही भागवतधर्म की पराकाष्ठा है। कृष्णसंकीर्तन ही महाध्यान, महायज्ञ एवं महाअर्चन है। कृष्णका ध्यान, कृष्णका यज्ञ तथा कृष्णका अर्चन साधारण है, परन्तु कृष्णसंकीर्तन रूप महाध्यान, महायज्ञ एवं महार्चनके द्वारा ही वे विषय अर्थात् अर्चन, यज्ञ एवं ध्यान परिपूर्णता को प्राप्तकर चरमफलप्रद होते हैं।

प्रश्न 2—गृहस्थोंका क्या कर्तव्य है?

उत्तर—यदि हम सर्वदा अपने शारीरिक सुखों के लिए ही चेष्टा करते रहेंगे तो अवश्य ही गृहव्रती हो जाएँगे। सदा–सर्वदा केवल श्रीकृष्ण की सेवाके लिए ही चेष्टा करनेसे हमारा कल्याण हो सकता है। जो स्त्री, पुत्र, घर, परिवार एवं बन्धु–बान्धवोंको छोड़कर सम्पूर्णरूपसे निरन्तर कृष्णभजन करते हैं, गृहस्थभक्तोंको सदा–सर्वदा सब प्रकारसे उनकी सहायता तथा सेवामें लगे रहना चाहिए।

तभी गृहस्थोंका कल्याण हो सकता है तथा संसारके प्रति उनकी

आसक्ति कुछ कम हो सकती है। जो पारमार्थिक गृहस्थ अर्थात् गृहस्थ वैष्णव हैं, वे जिस प्रकार अपने स्त्री–पुत्र, कन्या आदिके लिए अथाह परिश्रम करते हैं, उसी प्रकार उन्हें भगवानकी सेवाके लिए भी करना चाहिए। यदि स्त्री–पुत्र तथा परिवारके अन्य सदस्य भजन करते हैं, तो उनका अच्छी प्रकारसे पालन–पोषण करना चाहिए, नहीं तो दूध पिलाकर साँपको पालना उचित नहीं है। उनका संग भजनके प्रतिकूल तथा बाधक जानकर उनसे अलग हो जाना चाहिए।

हमलोग जैसे ही प्रभु (भोक्ता) सजना चाहते हैं तथा दूसरोंपर अपना प्रभुत्व जमाना चाहते हैं, वैसे ही हम माया या प्रकृतिके वशीभूत हो जाते हैं। वर्तमान समयमें दुःखग्रस्त हमलोगोंका एकमात्र कल्याणप्रद कर्तव्य है कि हम संसारके प्रति आसक्ति त्यागकर कृष्णके संसारमें प्रवेश करें। निष्कपट रूपसे श्रीगुरुदेवके श्रीचरणोंका आश्रय लेनेपर ही हमारा संसारसे उद्धार हो सकता है, इसके अतिरिक्त दूसरा उपाय नहीं है। जिस गुरुकी कृपासे संसारसे किसीका उद्धार हो सकता है, क्या वे गुरु अभक्त, अन्याभिलाषी, कर्मी, कपटी, नास्तिक मायावादी या योगी हो सकते हैं? यदि परमपुरुष भगवानमें किसीकी दृढ़भक्ति न हो तो क्या वह सद्गुरु हो सकता है?

यह बात नहीं है कि केवल त्यागियोंको ही गुरुसेवा करनी चाहिए, बल्कि गृहस्थ एवं त्यागी दोनोंको ही गुरुसेवा करनी चाहिए। श्रीगुरुदेवके श्रीमुखसे निकलनेवाली हरिकथा सेवोन्मुख कर्णोंमें पहुँचकर अज्ञानरूप अन्धकारको दूर करती है। तब हमारे नेत्र निर्मल हो सकते हैं, जिनके द्वारा सहजरूपसे ही कृष्णका दर्शन हो सकता है।

हमारे सर्वनाशका एकमात्र कारण है, हमारी प्रभु (भोक्ता) होनेकी इच्छा। यदि हम अपनी इच्छासे प्रेयपथ (जागतिक कामना) के मार्गपर चलकर संसार करनेके लिए दौड़ें तथा संसारमें ही व्यस्त रहें, तो त्रिताप–ज्वाला (आधिदैविक, आधिभौतिक, आध्यात्मिक) में हमें निश्चितरूपसे जलना ही पड़ेगा। अतः जो लोग मनकी बात तथा मनोधर्मी लोगोंकी बात न सुनकर सदा–सर्वदा भगवानकी सेवामें लगे रहते हैं, उनके ही उपदेशोंको सम्पूर्णरूपसे निःसंकोचरूपसे ग्रहण करना चाहिए।

प्रश्न 3—सेवा क्या वस्तु है?

उत्तर—सेवा देह तथा मनका धर्म या कार्य नहीं है। सेवा आत्माका धर्म है। सेवा बनियागिरि नहीं है। कृष्णके सुखके लिए सेवा ही कृष्णसेवा है। उसमें अपने सुखकी कामना लेशमात्र भी नहीं है। सेवा अव्यभिचारिणी, अहैतुकी तथा अप्रतिहता आत्माकी वृत्ति है। श्रीगुरुदेवकी अव्यभिचारिणी सेवाके बिना वेदान्तको समझना असम्भव है। भगवानके भक्तोंके अतिरिक्त कोई दूसरा गुरु नहीं हो सकता—यह हास–परिहासकी बात नहीं है, बल्कि सत्य बात है। गीतामें भगवान स्वयं कह रहे हैं—मेरी जो जिस प्रकारसे सेवा करता है, मैं भी उसीके अनुसार उसकी सेवा करता हूँ। कान्तारस (मधुर–रस) में सर्वांगसे

श्रीकृष्णकी सेवा होती है, इसीलिए श्रीकृष्ण भी स्वयंको उसका ऋणी मानते हैं। अतः कान्तारस (मधुर–रस) में ही शरणागतिकी परिपूर्णता तथा सेवाकी पराकाष्ठा है।

प्रश्न 4—हमारी भक्ति कैसे बढ़ सकती है?

उत्तर—सेवा करते–करते सेवाकी प्रवृत्ति जागेगी। जहाँपर गुरुसेवाकी इच्छा ही नहीं है, वहाँ पर बढ़नेकी बात ही नहीं है। यदि हमारी चित्तवृत्ति गुरु–चरणोंमें होगी, तो हम कहीं भी क्यों न रहें, हमारी सेवा करनेकी इच्छा बढ़ेगी। नहीं तो संसार करनेकी प्रवृत्ति ही बढ़ेगी। सदा–सर्वदा भगवानकी सेवा करनेसे समस्त प्रकारकी असुविधाएँ दूर हो जाएँगी। परन्तु यदि हम भगवानकी सेवा न कर संसारकी सेवा, मायाकी सेवामें तथा अपनी भोगकी वस्तुओंको ही एकत्रित करनेमें लगे रहे तो, अवश्य ही नाना प्रकारके अमंगल एवं अशान्ति आकर हमें घेर लेंगे। भक्तोंका सङ्ग तथा उनकी सेवाके बिना भक्ति नहीं बढ़ सकती।

हमने गुरु एवं श्रीकृष्णके चरणोंमें आश्रय लिया, परन्तु उनकी सेवामें लेशमात्र भी रुचि नहीं है। यदि हम भक्तिमार्गका आश्रय लेकर भक्ति न करें, विभिन्न प्रकारसे उनकी सेवाकी चेष्टा न करें, तो हम अपने कल्याणकी आशा कैसे रख सकते हैं?

हमें सर्वप्रथम श्रीगुरुदेवके चरणोंका आश्रय लेना होगा। अर्थात् हमें छोटा होना होगा, यही आश्रयका अर्थ है। आश्रितका कार्य है, भृत्य (सेवक) होकर सेव्यकी सेवा करना। परन्तु क्या हम ऐसा कर रहे हैं? हमें अपना सर्वस्व गुरुपादपद्ममें अर्पण करना होगा, तभी हमें पूर्णवस्तु भगवानकी प्राप्ति हो सकती है। परन्तु बड़े दुर्भाग्यका विषय है कि गुरुचरणोंमें सर्वस्व–त्याग तो दूरकी बात है, हम लेशमात्र भी (कुछ भी) नहीं देना चाहते तथा मुख ही मुखमें बोलते हैं—हमें कृपा चाहिए, भगवान चाहिए। परन्तु भगवान तो अन्तर्यामी हैं। उन्हें हम धोखा नहीं दे सकते। गुरुसेवाकी प्रवृत्ति न जागने पर कृष्णसेवाकी प्रवृत्ति कैसे बढ़ सकती है? गुरुपादपद्मका दर्शन करने पर भी यदि स्त्रीसंगकी इच्छा, संसारकी प्रवृत्ति बढ़ती है, तो इसका तात्पर्य यह है कि हमारी उन्नति नहीं हो रही है, बल्कि हमारा पतन ही हो रहा है। यदि कोई वास्तवमें ही गुरुपदाश्रयकर प्रीतिपूर्वक उनकी सेवा करे, तो उसे अवश्य ही कृष्णसेवाकी प्राप्ति होगी, कृष्णके विषयमें दिव्यज्ञान प्राप्त होगा तथा उसकी सेवावृत्ति बढ़नेके कारण उसे सेवानन्द प्राप्त होगा।

अतः हमें वही कार्य करने चाहिए, जिनके द्वारा विषयोंको बढ़ानेकी प्रवृत्ति तथा संसारकी वासना कम हो। ऐसा होनेपर ही कर्त्ताभिमान या भोक्ताभिमान दूर हो सकता है। ऐसी अवस्थामें ही जगतको श्रीकृष्णके भोग्यवस्तुके रूपमें अनुभव किया जा सकता है। मैं कर्त्ता हूँ, भोक्ता हूँ—यह अभिमान दूर होनेपर ही भगवानकी सेवाकी प्रवृत्ति बढ़ती है। संसारकी वासना प्रबल रहने पर, संसारके लिए अधिक व्यस्त रहने पर भगवानकी सेवाप्रवृत्ति

उदित नहीं हो सकती। भगवानकी सेवाके लिए उत्कण्ठा जागने पर मनुष्य स्वयंको गुरुका पुत्र मानता है। जिसके फलस्वरूप जागतिक माता-पिता, बन्धु-बान्धवोंसे उसका सम्बन्ध नष्ट हो जाता है। तभी उसका मंगल होता है अर्थात् उसका वास्तविक मठवास होता है।

प्रश्न 5—क्या भगवानकी सेवा अपने आप नहीं की जा सकती?

उत्तर—यदि भगवान किसीपर कृपा करें, तभी वह भगवानकी सेवा कर सकता है। अन्यथा किसीका सामर्थ्य नहीं है कि इस कोलाहलपूर्ण संसारमें रहकर भगवानकी सेवा कर पाए। हरि-सेवा कोई खेल-तमाशा (साधारण वस्तु) नहीं है।

जो व्यक्ति जन्म, ऐश्वर्य, पाण्डित्य एवं सौन्दर्य—इन चार स्त्रियोंके (मदों एवं विषयों के) अधीन है, वह कदापि हरिसेवा नहीं कर सकता। इन चार स्त्रियोंको (मदोंको) गोपीजनवल्लभकी सेवामें नियुक्त करने पर ही इनके चंगुलसे मुक्त होकर हरिसेवा की जा सकती है। तात्पर्य यह है कि जबतक किसीको उच्चकुलमें जन्मका अभिमान, पाण्डित्यका अभिमान, सुन्दरताका अभिमान तथा ऐश्वर्यका अभिमान है, वह कदापि भगवानकी सेवाके योग्य नहीं है।

इन चार स्त्रियोंके (मदोंके) वशमें होनेके कारण ही जीव स्वयंको जगतका भोक्ता समझ रहा है। वह स्वयं प्रभु होना चाहता है, दास नहीं—यही अवैष्णवता है। सेव्य (भगवान) एवं सेवकका सम्बन्ध ही भक्ति या सेवा है। मैं दुसरोंका सेव्य (मालिक) हूँ—ऐसा अभिमान रहने पर सेवा या भक्ति कैसे सम्भव हो सकती है? क्योंकि सेवा तो सेवक ही करता है, सेव्य नहीं।

मैं कर्त्ता होकर श्रवण, कीर्तन, दर्शन एवं स्मरण करूँगा, यह कर्मियों या अभक्तोंका विचार है अर्थात् कर्त्ताभिमानसे श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि भक्ति नहीं है। जब कोई कर्त्ता-अभिमान त्यागकर अपनी समस्त प्रकारकी चेष्टाओंको भगवानकी सेवामें नियुक्त करता है, तभी उसकी समस्त प्रकारकी असुविधाएँ दूर हो सकती है तथा वह भगवानकी सेवाका आनन्द प्राप्त कर सकता है।

यदि हम स्वयंको भगवानका सेवक मानते हैं तो हमें 24 घण्टे भगवानकी सेवामें लगे रहना चाहिए। हमें सम्पूर्णरूपसे भगवानके ऊपर निर्भर रहना चाहिए। हमारी समस्त प्रकारकी विपत्तियों तथा समस्याओंका समाधान एक ही प्रकारसे हो सकता है, यदि हम भगवानके विधानपर पूर्णरूपसे निर्भर रहें, अर्थात् हमें समस्त प्रकारकी विपत्तियोंको भगवानकी कृपा मानकर सहन करना चाहिए।

इस संसारमें हमलोग पति-पत्नी, पिता-पुत्र, मित्र-मित्र, प्रभु-भृत्य (मालिक-नौकर),—इन चार प्रकारके सम्बन्धोंमें बँधकर सेवा करते हैं। अपने स्वरूप अर्थात् जीव स्वरूपतः कृष्णका दास है—इसे भूलनेके कारण ही हम

इस जगतमें इन चार प्रकारके अनित्य सम्बन्धोंमें बँध गए हैं। इस संसारमें प्रारम्भमें सब-कुछ अच्छा लगता है, परन्तु उसका अन्त बहुत ही नैराश्यजनक एवं भयानक होता है। "माधव हाय परिणाम निराशा"—हे माधव मुझे परिणाममें निराशा ही हाथ लगी है। परन्तु इन्हीं चार प्रकारके सम्बन्धोंमेंसे कोई एक सम्बन्ध भगवानके साथ हो जाने पर हमारा निश्चित रूपसे कल्याण हो सकता है तथा तभी भगवानकी सेवा हो सकती है। इसी जड़ जगतमें रहकर भगवानकी सेवा इन चारोंमेंसे किसी एक सम्बन्धके द्वारा करने पर वैकुण्ठ जाया जा सकता है। परन्तु इस जगतमे दूसरोंसे सेवा ग्रहण करनेकी इच्छा रहने पर संसारमें आसक्त होना पड़ता है। जिसके फलस्वरूप त्रितापोंसे दग्ध होना पड़ता है।

हमें सर्वदा स्मरण रखना चाहिए कि हम कृष्ण नहीं हैं, प्रभु नहीं हैं। बल्कि हम कृष्णके सेवक हैं। कृष्ण ही हमारे नित्य सेव्य तथा नित्य प्रभु हैं। हम कृष्णके नित्य सेवक हैं, इसे भूलकर कृष्णकी सेवाके विरुद्ध आचरण करने पर ही संसार दशा हो जाती है। तब त्रितापोंसे ग्रस्त होकर हमारे दुःखोंकी सीमा नहीं रहती। संसार नरकका द्वार है। वहाँ पर केवल भोग तथा अपना इन्द्रिय तर्पण है। कृष्णको भूलनेसे ही संसार दशा होती है। इसीलिए शास्त्रोंमें कहा है—

चारि वर्णाश्रमी यदि कृष्ण नाहि भजे।
स्वधर्म करिलेओ से रौरवे पड़ि मजे॥

अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—ये चार वर्ण तथा ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास—ये चार आश्रम हैं। इसे वर्णाश्रम धर्म कहते हैं। यदि कोई अच्छी प्रकारसे इस वर्णाश्रम धर्मका पालन तो करता है, परन्तु कृष्णका भजन नहीं करता है, तो वह स्वधर्म (वर्णाश्रम धर्म) का पालन करते हुए भी रौरव नामक नरकमें जाता है।

प्रश्न 6—संसारको किस रूपमें देखना चाहिए?

उत्तर—हमें इस संसारको तथा विश्वकी समस्त वस्तुओंको कृष्णकी सेवाके उपकरणके रूपमें देखना चाहिए। इस जगतकी सभी वस्तुएँ कृष्णसेवाकी सामग्री हैं। जिस दिन गुरु एवं कृष्णकी कृपासे द्वितीयाभिनिवेश (कृष्णसेवाके अतिरिक्त अन्य वस्तुओंके प्रति आसक्ति) से बचकर जगतको कृष्णमय दर्शन करेंगे अर्थात् सारा जगत ही कृष्णका वैभव है, उनकी सेवाकी वस्तु है, उसी दिन हमें इस जगतमें ही गोलोकके दर्शन होंगे। हमें समस्त नारी जातिको श्रीकृष्णकी भोग्याके रूपमें, श्रीकृष्णकी कान्ता (प्रेयसी) के रूपमें दर्शन करना चाहिए। उनके प्रति किसी प्रकारकी भोगबुद्धि नहीं होनी चाहिए। वे श्रीकृष्णकी भोग्या हैं, जीवकी नहीं। हमें माता-पिताको अन्यरूपमें दर्शन न कर कृष्णके पिता-माताके रूपमें दर्शन करना चाहिए। हमें अपने पुत्रको अपना सेवक न मानकर बालगोपालका सेवक मानना चाहिए। तभी हमारा जगत दर्शन नहीं होगा। तथा इसी जगतके स्वरूपमें ही

गोलोकका दर्शन होगा।

प्रश्न 7—श्रीगुरुदेवका साक्षात् संग तथा सेवाकी क्या विशेष आवश्यकता है?

उत्तर—अवश्य ही। श्रीगुरुदेवके साथ साक्षात् सम्बन्ध होना चाहिए। जो गुरुसेवा साक्षात् रूपमें नहीं करना चाहते, वे वञ्चित हो जाते हैं। Direct communication with guru is the first step on the path of divine service. Guru is to be served by every entity. If guru is not served, no one can really be served. I must not hear anything until I am authorized to hear by my divine master, Sri Gurudev.

प्रश्न 8—क्या हम श्रीरूपानुगवर श्रीगुरुपादपद्मके दास हैं?

उत्तर—हाँ। श्रीचैतन्यदेवके मधुर-रस आश्रित भक्तवृन्द स्वयंको श्रीरूपानुगदास या श्रीरूपानुगवर श्रीगुरुपादपद्मके दासके रूपमें अभिमान करते हैं।

प्रश्न 9—सर्वश्रेष्ठ उपकार क्या है?

उत्तर—श्रीकृष्णके चरणकमलोंमें मति हो—ऐसा आशीर्वाद या शुभाकांक्षा ही जगतके लिए कल्याणकारी है। श्रीकृष्णसे विमुख जीवोंकी बुद्धिको श्रीकृष्णकी ओर लगा देना ही सबसे बड़ा उपकार है। सबको कृष्णभक्ति दान करना ही सर्वश्रेष्ठ दान है। भक्तोंका हृदय सर्वदा ही ऐसा परोपकार करनेके लिए उत्कण्ठित रहता है। भगवानको जानना ही सर्वश्रेष्ठ ज्ञान है। रायरामानन्द संवादमें स्वयं महाप्रभु रामानन्दजीसे पूछ रहे हैं—

कौन विद्या विद्या-मध्ये सार।
राय कहे—कृष्णभक्ति बिना विद्या नाहि आर॥

अर्थात् प्रभुने पूछा—विद्याओंमें कौन-सी विद्या सार (श्रेष्ठ) है? रायरामानन्दजीने उत्तर दिया—कृष्णभक्तिके अतिरिक्त अन्य कोई विद्या नहीं है। आजकल सर्वत्र ही निरीश्वर शिक्षा (Godless education) का ही प्रचार हो रहा है, जिससे जगतवासियोंका किसी प्रकारका भी कल्याण नहीं हो रहा है और न होगा। श्रीचैतन्य महाप्रभुकी दयाका वितरण करनेसे ही मनुष्य जातिका सर्वश्रेष्ठ उपकार हो सकता है।

प्रश्न 10—किसका भाग्य अच्छा है?

उत्तर—मनुष्यका भाग्य दो प्रकारका होता है—अच्छा तथा मन्द (खराब)। जिसका भाग्य अच्छा है, वही हरिभजनकी चेष्टा करता है तथा वह इसी जन्ममें ही हरिभक्ति प्राप्त कर लेता है। उसे अगला जन्म नहीं लेना पड़ता। यदि हम सम्पूर्ण रूपसे श्रीचैतन्यदेवके श्रीचरणमें आश्रय ग्रहण करें, तो अवश्य ही इसी जन्ममें हमारा कल्याण हो जाएगा। इस कल्याणके

पथमें आकर भी यदि असत्सङ्ग हो जाता है, तो पुनः पतन भी हो सकता है। अतः हमें सर्वदा कनक-कामिनी-प्रतिष्ठाकी आशाके लोभसे दूर रहना चाहिए। भक्तिकी बातोंको पुनः-पुनः श्रवण करनेसे समस्त प्रकारकी असत् चिन्ताएँ दूर हो जाती हैं। श्रीचैतन्य महाप्रभुकी बातें इतनी सत्य एवं इतनी सुन्दर हैं कि उनके सामने अन्य किसी भी प्रकारकी बातें टिक नहीं सकतीं। धर्म-अर्थ-काम तथा मोक्षको भी धिक्कार करनेवाली श्रीचैतन्यमहाप्रभुकी कथाओंके सेवक ही वास्तविक उदार हैं। महाप्रभुके भक्तवृन्द कितने बुद्धिमान, कितने चिन्ताशील तथा कितने परोपकारी हैं, निरपेक्ष होकर इसका विचार करना चाहिए। मैं सबपर शासन करूँगा तथा सभी लोग मेरा शासन स्वीकार करें—ऐसी दुर्बुद्धिसे हमें श्रीचैतन्यमहाप्रभुकी दया ही बचा सकती है।

प्रश्न 11—किसे दान देना चाहिए?

उत्तर—यदि उपकार करनेकी या दान देनेकी इच्छा हो तो, केवल गुरु एवं वैष्णवोंको ही देना चाहिए। जो 24 घण्टे भगवानका भजन करते हैं, केवल उन्हीं पर विश्वास तथा उनकी सेवा करनी चाहिए। जो व्यक्ति भगवानकी सेवा नहीं करता, बल्कि स्वयं दूसरोंकी सेवा ग्रहण करनेमें लगा है, उसपर कभी भी विश्वास नहीं करना चाहिए तथा न ही उसे कुछ दान देना चाहिए।

प्रश्न 12—शुद्धभक्तोंका विचार कैसा होता है?

उत्तर—शुद्धभक्तोंका विचार है कि जगतकी वस्तुएँ मेरे भोगके लिए नहीं, बल्कि भगवानकी सेवाके लिए हैं। समस्त चेतन तथा अचेतन वस्तुएँ श्रीकृष्णकी सेवाके लिए ही हैं। All our activities should tend to His unalloyed service. **"हृषीकेण हृषीकेश सेवनं भक्तिरूच्यते।"** अर्थात् अपनी इन्द्रियोंसे इन्द्रियोंके पति श्रीकृष्णकी सेवा ही भक्ति कहलाती है। वे हमारी सेवा ग्रहण करें, यही हमारी प्रार्थना हो। यदि ईंटोंको अपने घरके लिए प्रयोग करें, तो तभी हम विपत्तिमें फँस सकते हैं। यदि भगवानके मन्दिरके लिए करें तो किसी प्रकारकी विपत्ति नहीं आ सकती। यदि अचेतन अर्थात् जड़ पदार्थ भगवानकी सेवामें लग जाए तो यह उनका सद्-व्यवहार होता है, यदि हमारे इन्द्रिय-तर्पणके लिए होता है, तो यही उनका असद् व्यवहार है। जगतमें जितनी भी अचेतन वस्तुएँ हैं, भगवानकी सेवामें लगने पर ही उनकी सार्थकता है। भक्तोंकी प्रत्येक क्रिया हरि-गुरु एवं वैष्णवोंको सुख प्रदान करनेके लिए ही होती है। शुद्धभक्त अपने लिए या अपने बन्धुबान्धवोंके लिए कोई भी कार्य नहीं करते, बल्कि केवल भगवानके लिए ही करते हैं।

प्रश्न 13—किसकी सेवा करनी चाहिए?

उत्तर—गुरु तथा भगवान अधोक्षज वस्तु हैं। Absolute person के

साथमें जिनका सम्बन्ध है, वे गुरुको ईश्वररूपमें दर्शन करते हैं। गुरु सेवक भगवान या आश्रय भगवान हैं। इसलिए गुरु भक्त भी हैं, भगवान भी। गुरु भगवान होनेपर भी भगवानके प्रिय हैं। गुरु पूर्ण शक्ति हैं तथा श्रीकृष्ण पूर्ण शक्तिमान हैं। शास्त्रोंके अनुसार दोनोंमें कोई भेद नहीं है। जो सदा-सर्वदा भगवानकी सेवा करते हैं, ऐसे भगवानके भक्त श्रीगुरुदेवकी सेवा करनी चाहिए। गुरुसेवाके साथ-साथ गुरुनिष्ठ वैष्णवोंकी सेवा भी करनी चाहिए। साधारण मायाबद्ध जीवको भक्त मानकर उसकी सेवा करनेसे कोई लाभ नहीं है। आजकल वैष्णवके नामपर अनेक ढोंग चल रहा है। इसीलिए कहा जा रहा है कि गुरु एवं वैष्णवोंकी सेवा ही करनी चाहिए। परन्तु यदि कोई भविष्यमें अवैष्णव हो जाए, तो उसकी सेवामें समय व्यर्थ नहीं गंवाना चाहिए। श्रीगुरुदेवके चरणकमलोंका आश्रय लेकर दृढ़ विश्वासपूर्वक गुरुसेवा करनी चाहिए। शास्त्रोंमें वर्णन है—**'विश्रम्भेण गुरोः सेवा'**—अर्थात् विश्रम्भपूर्वक गुरुसेवा करनी चाहिए। विश्रम्भका अर्थ है—दृढ़विश्वासपूर्वक या प्रीतिपूर्वक। दृढ़प्रीतिपूर्वक गुरु एवं वैष्णवोंकी सेवा करनेसे मंगल अवश्य ही होगा, श्रीकृष्ण प्रसन्न होंगे। गुरुके प्रति मनुष्य-बुद्धि नहीं होनी चाहिए। सद्गुरु निर्दोष हैं, अतः उनमें दोष-दर्शन नहीं करना चाहिए।

उचित समय तथा समस्त प्रकारकी सुविधाएँ सब समय नहीं मिलतीं। अतः हमें समय रहते हुए ही साधुसंगमें हरिभजन कर अपना कल्याण कर लेना चाहिए।

प्रश्न 14—क्या इस जगतमें शुद्ध साधुका आदर है?

उत्तर—कपटतापूर्ण जगतमें कपटका ही आदर है। जो साधु जीवोंको विपथगामी नहीं करते, ऐसे शुद्ध साधुओंका जगतमें आदर नहीं होता। जो साधु हरिकथाके नामपर लोगोंको विपथगामी करते हैं, ऐसे साधुओंकी सेवा ही आजकल कपटी समाजका धर्म बन चुका है। अर्थात् जो साधु स्वयं विषयोंमें प्रमत्त हैं तथा लोगोंको भी विषयभोगकी शिक्षा देते हैं, उनका तो बहुत सम्मान है, परन्तु जो स्वयं विषयोंसे विरक्त हैं तथा लोगोंको भी विषय-भोगोंको त्यागकर भगवानकी सेवाकी शिक्षा देते हैं, दुर्भागे लोग उनका सम्मान नहीं करते। जब कपटी साधुओंकी कपटताको लोगोंको बताकर शुद्ध साधु उन्हें सावधान करनेकी चेष्टा करते हैं, तो उस समय वे कपटी साधु उल्टा उन्हें ढोंगी एवं कपटी इत्यादि बताते हैं और लोगोंका भी दुर्भाग्य ही है कि उन्हें ऐसी ढोंगी साधुओंकी बातोंपर ही विश्वास हो जाता है तथा वे शुद्ध साधुओंको दुत्कार देते हैं। यह मायाका ही प्रभाव है कि वह जीवको निष्कपट नहीं होने देगी, इसीलिए वह जीवोंको शुद्ध साधुओंसे दूर रखनेकी भरसक चेष्टा करती है।

प्रश्न 15—यदि गुरुदर्शन न हुआ तो क्या भगवानका दर्शन भी नहीं होगा?

उत्तर—नहीं। श्रीगुरुदेव चिन्मय मन्दिर हैं। उस मन्दिरमें भगवान विराजमान हैं। भगवान तो प्रेमके वशीभूत हैं। इसीलिए वे अपने प्रेमी गुरु एवं वैष्णवोंके हृदयमें ही निवास करते हैं। शास्त्र कहते हैं—

श्रुतिमपरे स्मृतिमितरे भारतमन्ये भजन्तु भवभीताः।
अहमिह नन्दं वन्दे यस्यालिन्दे परं ब्रह्म॥

(चैतन्य-चरितामृत मध्य-लीला 19-96)

अर्थात् इस संसारसे भयभीत होकर कोई श्रुतियोंकी, कोई स्मृतियोंकी तो कोई महाभारतकी उपासना करते हैं, परन्तु मैं उन नन्दमहाराजकी वन्दना करता हूँ जिनके आँगनमें परंब्रह्म श्रीकृष्ण क्रीड़ा करते हैं।

अनेक लोग ऐसा अभिनय करते हैं कि जैसे वे भगवानके दर्शनोंके लिए बहुत उत्कण्ठित हैं। परन्तु उन्हें यह ज्ञान नहीं है कि गुरुके दर्शनोंसे ही भगवानके दर्शन होते हैं। गुरुके चरणोंमें आश्रय लिये बिना तो भक्ति ही प्रारम्भ नहीं होती।

गुरु ही भगवानके चरणोंसे हमारा सम्बन्ध जोड़ते हैं। श्रीकृष्ण अपने सर्वश्रेष्ठ सेवक या सर्वश्रेष्ठ वैष्णवको इस जगतमें भेजते हैं, इससे श्रीकृष्णकी करुणाका ही परिचय मिलता है। भगवानकी अनन्त शक्तियाँ हैं। उनमें एक शक्ति करुणाशक्ति है, जिसके माध्यमसे वे जीवोंपर कृपा करते हैं। उनकी इस करुणाशक्तिका अवतार ही हैं श्रीगुरुदेव। जो श्रीविग्रह एवं श्रीनामकी सेवाकी शिक्षा देते हैं, वे ही गुरु हैं। केवल ऐश्वर्यभावसे गुरुसे दूर रहकर उनकी सेवा करनेसे ही काम नहीं चलेगा। दृढ़ विश्वास एवं प्रीतिपूर्वक गुरुसेवा करनी चाहिए, जिस प्रकार श्रीलरघुनाथ दास गोस्वामीने श्रीस्वरूपदामोदरकी सेवा की।

प्रश्न 16—क्या गुरुको भूलनेसे विपत्तिमें पड़ना पड़ेगा?

उत्तर—अवश्य ही। जो प्रतिक्षण हमें अपने श्रीचरणोंमें आकर्षित करके रखते हैं, ऐसे गुरुके चरणकमलोंसे हम जिस क्षण अलग हो जायेंगे या उन्हें भूल जायेंगे, उसी क्षण हम अवश्य ही भक्तिमार्गसे भ्रष्ट हो जायेंगे। गुरुसे अलग होते ही अनेक प्रकार की सांसारिक कामनाएँ हमें ग्रास कर लेंगी। हमारा दुर्भाग्य है कि हमलोग शारीरिक सुख-सुविधाओंके लिए गुरुसेवाको भी त्याग देते हैं। जो गुरुदेव सांसारिक विषयोंसे सर्वदा हमारी रक्षा करते हैं, ऐसे गुरुदेवका स्मरण यदि हम प्रतिमुहूर्त न करें तो अवश्य ही हमें विपत्तिमें पड़ना पड़ेगा। उस समय हम स्वयं ही गुरु होना चाहेंगे। दूसरे सभी लोग मेरी पूजा करें, हमारी ऐसी दुर्बुद्धि हो जायेगी।

प्रश्न 17—वैष्णवोंके दोष कौन देखता है?

उत्तर—जो भगवानसे विमुख है, जिसकी इन्द्रियाँ सांसारिक विषयोंमें लगी हुई हैं, वही वैष्णवोंका दोष देखता है। गीतामें भगवान कहते हैं कि मेरे भक्तका कभी भी विनाश नहीं होता, उसका कभी अकल्याण नहीं होता

—**'न मे भक्तः प्रणश्यति।'** जो अनन्यभावसे भगवानका भजन करते हैं, क्या कभी उनका अमंगल हो सकता है? हमारी दृष्टिमें दोष है, इसीलिए हमें वैष्णवोंमें भी दोष दिखायी पड़ते हैं। यही कारण है कि सब कुछ करनेपर भी हमारा कल्याण नहीं होता।

प्रश्न 18—क्या श्रीगुरुदेव प्रत्येक वस्तुमें ही विराजमान हैं?

उत्तर—हाँ। आश्रयजातीय गुरुवर्ग विभिन्न स्वरूपोंमें हमपर कृपा करनेके लिए उपस्थित हैं। ये सभी दिव्यज्ञानदाता दीक्षागुरुके ही प्रकाश हैं। विभिन्न दर्पणोंमें जगद्गुरुका बिम्ब ही प्रतिबिम्बित हो रहा है। प्रत्येक वस्तुमें मेरे श्रीगुरुदेव ही प्रतिफलित हो रहे हैं। विषयजातीय कृष्ण आधे तथा आश्रयजातीय कृष्ण (श्रीगुरुदेव) आधे हैं। इन दोनोंके मिलनेपर ही पूर्ण विचित्रता प्रकट होती है। विषयजातीय पूर्ण प्रतीति कृष्ण तथा आश्रयजातीय पूर्ण प्रतीति श्रीगुरुदेव हैं। सर्वक्षण भगवानकी सेवाकी जो शिक्षा प्रदान करते हैं, वे ही श्रीगुरुदेव हैं। वे सभी जीवोंके हृदयमें प्रतिबिम्बित हो रहे हैं। वे आश्रयजातीयके रूपमें प्रत्येक वस्तुमें ही विराजमान हैं।

प्रश्न 19—संसारमें हमारी जो आसक्ति लगी है, उससे हमारी रक्षा कौन करेगा?

उत्तर—श्रीचैतन्यमहाप्रभुके प्रियजन श्रीगुरुदेव ही संसाररूप मृत्युसे हमारी रक्षा कर सकते हैं। गुरु कौन है? इस विषयपर हमें विचार करना चाहिए। जो समस्त गुरुओंके एकमात्र आराध्य हैं, ऐसे पूर्णवस्तु भगवानकी सेवामें जो नियुक्त हैं, वे ही गुरु हैं। वैसे तो गुरु बहुत होते हैं। जैसे—कुश्ती सीखानेवाले, तैराकी सीखानेवाले, खेल सीखानेवाले या स्कूल-कालेजोंमें जागतिक शिक्षा देनेवाले। परन्तु इनमेंसे एक भी गुरु ऐसा नहीं है, जो हमें मृत्युसे बचा सके, अर्थात् इस दुःखमय संसारमें हमारे आवागमनको रोक सके। क्योंकि वे तो स्वयं ही अपनेको बचानेमें असमर्थ हैं। अतः यहाँपर ऐसे गुरुओंकी बात नहीं कही गयी है। भागवतमें भी कहा गया है—वह गुरु, गुरु नहीं है; वे मातापिता, मातापिता नहीं हैं; वह देवता, देवता नहीं है; वे बन्धु-बान्धव, बन्धु-बान्धव नहीं हैं; जो हमें भक्तिका उपदेश प्रदानकर हमारी मृत्यु अर्थात् संसारमें हमारे आवागमनको न रोक सके, इस जड़जगतके प्रति आविष्टतारूपी मृत्युसे हमारी रक्षा कर सके। अज्ञानके कारण ही अर्थात् भगवानको भूलनेके कारण ही हमें मृत्युके मुखमें जाना पड़ता है अर्थात् जन्म-मरणके चक्करमें पड़ना पड़ता है। ज्ञान होनेपर सहजरूपमें ही हम मृत्युके मुखमें जानेसे बच जाते हैं। इस संसारमें हम जो विद्या ग्रहण करते हैं, यदि किसी कारणसे हम पागल हो जाएँ, हमें पक्षाघातग्रस्त (लकवा) हो जाए या हमारी मृत्यु हो जाए, तो उस समय इस विद्याका कुछ भी मूल्य नहीं रहता। जो गुरु हमें मृत्युके मुखसे बचा नहीं सकते, वे कुछ दिन तो हमारे लिए विषय-भोगोंकी व्यवस्था तो कर देते हैं अर्थात् हमें ऐसी शिक्षा

प्रदान करते हैं, जिसके द्वारा हम नाशवान शारीरिक सुखकी वस्तुओंको इकट्ठा कर लेते हैं, परन्तु इस संसारके प्रति आसक्तिरूप मृत्युसे बचा नहीं पाते। अतः ये सब वञ्चक हैं।

प्रश्न 20—भगवानको किस प्रकार बुलाना चाहिए?

उत्तर—भगवान श्रीचैतन्य महाप्रभु कह रहे हैं कि भगवानको बुलानेके लिए एक घासके तिनकेसे भी अधिक सुनीच तथा दीन-हीन होना पड़ेगा। विद्या, रूप, धन-सम्पत्ति, ऐश्वर्य इत्यादिके अभिमानको पूर्णरूपसे त्यागना पड़ेगा। क्योंकि जबतक एक व्यक्तिको यह अनुभव न हो कि मैं छोटा हूँ अथवा असमर्थ हूँ तो वह दूसरेके सामने कैसे झुकेगा तथा अपनी सहायताके लिए उससे प्रार्थना क्यों करेगा? इस संसारमें ही हम देखते हैं कि जब बहुत चेष्टा करनेपर भी कोई व्यक्ति किसी कार्यको करनेमें असमर्थ हो जाता है, तो उस समय असहाय होकर सहायताके लिए दूसरोंसे प्रार्थना करता है। प्रार्थना करनेका तात्पर्य है—उसका अभिमान-अहंकार नष्ट हो चुका है। उसी प्रकार जब श्रीगौरसुन्दर भगवानको बुलानेके लिए कह रहे हैं, तो इसका तात्पर्य यह है कि पहले हमें यह अनुभव करना पड़ेगा कि मैं असहाय हूँ तथा अपनी चेष्टासे इस जन्म-मरणके चक्करसे पार नहीं हो सकता, तभी हम सर्वशक्तिमान भगवानको अपनी सहायताके लिए बुला सकते हैं। परन्तु यदि कोई भगवानको सहायताके लिए पुकारता है केवल अपना काम हल करनेके लिए, वास्तवमें उनसे प्रीति नहीं है, तो यह दीन-हीनता नहीं है, यह कपटता है, स्वार्थ है। ऐसी पुकार भगवानतक नहीं पहुँचती। भगवान परम स्वतन्त्र हैं, पूर्ण चेतन वस्तु हैं, सबके अन्तर्यामी हैं, वे किसीके अधीन नहीं हैं। जबतक हम अपने अहङ्कारको पूर्णरूपसे त्यागकर निष्कपट दीनतामें प्रतिष्ठित न हो जाएँ अर्थात् वास्तवमें ही दीन-हीन न बन जाएँ, तबतक परम स्वतन्त्र भगवानतक हमारी पुकार नहीं पहुँच सकती।

एक बात और भी है—तृणादपि सुनीच (दीन-हीन) होकर भगवानको पुकारते समय यदि हममें सहनशीलता न हो, तो भी पुकार व्यर्थ हो जायेगी। यदि हम किसी वस्तुके लोभमें पड़कर असहिष्णुता दिखाते हैं, तो यह तृणादपि सुनीच (दीनता) के विरुद्ध है। यदि हमें पूर्ण विश्वास है कि भगवानकी कृपा हो जाए तो किसी वस्तुका अभाव नहीं रह सकता, तो ऐसी अवस्थामें तुच्छ वस्तुओंके मोहमें पड़कर हम असहिष्णु नहीं बनेंगे अर्थात् यदि कोई हमारी तुच्छ सांसारिक वस्तुको नष्ट भी कर देता है, तो भी हम उसपर क्रोध नहीं करेंगे।

अनेक समय हम ऐसा सोचते हैं कि भगवानको पुकारनेसे क्या होगा? शास्त्रोंमें और भी अनेक उपायोंका वर्णन है जैसे कर्म, ज्ञान, तप आदि। अतः मैं किसी अन्य उपायको ग्रहण कर सकता हूँ। सहनशीलताके अभावमें ही ऐसी सोचें जन्म लेती हैं। ऐसे कुविचारोंसे रक्षाके लिए हमें एक रक्षककी आवश्यकता होती है। गुरु ही वे समर्थवान रक्षक हैं। श्रील नरोत्तम

ठाकुर कह रहे हैं—"आश्रय लइया भजे, तारे कृष्ण नाहि त्यजे, आर सब मरे अकारण।" जो गुरु–वैष्णवोंके चरणकमलोंका आश्रय लेकर भगवानका भजन करता है, उसे तो कृष्ण कभी भी नहीं छोड़ते। इनके अतिरिक्त सब व्यर्थ ही मारे जाते हैं। कृष्ण उनकी ओर देखते तक नहीं।

प्रश्न 21—क्या गुरु–सेवाकी विशेष आवश्यकता है?

उत्तर—श्रीगुरुदेवकी सेवा सर्वप्रथम करनी चाहिए। जगतमें कर्म, ज्ञान अथवा अन्यान्य जागतिक अभिलाषाओंको भी पूर्ण करनेके लिए गुरुकी आवश्यकता होती है, किन्तु उन गुरुओंके द्वारा जो विद्या प्राप्त होती है, उसके द्वारा तुच्छ फल ही प्राप्त होता है। पारमार्थिक श्रीगुरुदेव ऐसे तुच्छ फलदाता नहीं हैं। वे वास्तवमें ही कल्याण करनेवाले होते हैं। आश्रयजातीय भगवान श्रीगुरुदेवकी कृपासे जिस क्षण हम च्युत हो जाएँगे, उसी क्षण भगवानकी सेवाके अतिरिक्त नाना प्रकारकी इच्छाएँ हमारे हृदयमें उदित हो जाएँगी। जिसकी गुरुके प्रति प्रगाढ़ निष्ठा उत्पन्न हो चुकी है, ऐसे वैष्णव यदि हमें उपदेश न करें कि हमें किस प्रकार गुरुके श्रीचरणकमलोंका आश्रय लेना चाहिए अथवा श्रीगुरुदेवसे कैसा व्यवहार रखना चाहिए तो हम हाथमें आया हुआ रत्न भी खो बैठेंगे। पाण्डित्य की महिमा तभी है, जब मूर्ख हो, उसी प्रकार पुण्य की महिमा तभी है, जब पाप हो।

प्रश्न 22—क्या हमारा जीवन आदर्शपूर्ण होना चाहिए?

उत्तर—हमारा जीवन आदर्शपूर्ण होना चाहिए। हमारे चरित्रको देखकर कोई व्यक्ति कुछ विपरीत न सोचें, इसके लिए हमें सावधान रहना चाहिए। कोमल श्रद्धावाले लोगोंके लिए कदम–कदम पर विपत्ति ही विपत्ति है। क्योंकि वे अन्तर्दर्शी नहीं हैं, वे केवल बाहरी आचरणको देखकर ही विचार करते हैं। अर्थात् हमारे हृदयमें भक्ति है कि नहीं, वे इसका अनुमान नहीं लगा सकते। वे हमारी बाहरी आचरणोंको देखकर ही हमें भक्त या अभक्त मानते हैं। अतः हमारे आचरणको देखकर कहीं उसकी श्रद्धा सभी भक्तोंसे न हट जाए, इसके लिए हमें सावधान रहना चाहिए।

प्रश्न 23—हमें कौन–सा रोग है?

उत्तर—कृष्णकी सेवाकी चेष्टाको छोड़कर अपने सुखदायक वस्तुओंका संग्रह करना ही हमारा मूल रोग है। हमें विषयरस अच्छा लगता है, परन्तु सभी विषयोंके भी विषय कृष्णकी सेवा हमें अच्छी नहीं लगती, यही हमारा दुर्भाग्य है। पीलियेके रोगीको मीठी मिश्री भी कड़वी लगती है, उसी प्रकार विषयोंमें आसक्त होनेसे मधुरसे भी मधुर कृष्णनाम तथा कृष्णसेवामें हमारी रुचि नहीं होती। यदि शरीरमें विष चढ़ जाए तो शहद भी कड़वा लगता है।

मिश्री ही पीलिया रोगकी औषधि है। मिश्री खाते–खाते धीरे–धीरे जब रोग दूर होने लगता है, तो क्रमशः वही मिश्री मीठी लगने लगती है। उसी

प्रकार अनर्थग्रस्त होनेके कारण इच्छा न होनेपर भी यदि कृष्णनाम एवं कृष्णकी सेवा की जाए, तो क्रमशः बहिर्मुखता दूर होने लगती है तथा संसारके प्रति आसक्ति कम होने लगती है। फलस्वरूप भगवानके नाम एवं उनकी सेवामें रुचि होने लगती है। उस समय कृष्णनाम-माधुर्य स्वयं ही प्रकाशित होकर हमें चिन्मय इन्द्रियोंके द्वारा भगवानकी सेवामें नियुक्त कर देते हैं।

प्रश्न 24—जागतिक असुविधा उपस्थित होनेपर भक्तको क्या करना चाहिए?

उत्तर—सब भगवानकी इच्छा है। अतः असुविधा होनेपर उन्हें सहन करते हुए भगवानकी कृपाकी प्रतीक्षा करनी चाहिए। नृसिंहदेव सर्वदा ही अपने भक्तोंकी समस्त प्रकारके कष्टोंमें सहायता करते हैं। अतः भक्ति करते हुए हमें अपने पालन एवं रक्षाकी चिन्ता नहीं करनी चाहिए। भगवानके शरणागत हो जानेसे भक्तोंके सभी प्रकारके कष्ट दूर हो जाता है।

प्रश्न 25—क्या श्रीगुरुदेव सम्पूर्णरूपमें निरपेक्ष होते हैं?

उत्तर—अवश्य ही। मेरे गुरुदेव सम्पूर्णरूपसे निरपेक्ष हैं। इस संसारमें वे किसीकी अपेक्षा नहीं रखते। अर्थात् वे जगतमें किसीसे कुछ नहीं चाहते। उनकी एकमात्र इच्छा होती है कि सभी लोग निष्कपटरूपसे भगवानका भजन करें। किसीको कृष्णकी सेवामें लगानेको ही वे सर्वापेक्षा अधिक दया मानते हैं। परन्तु किसीकी रुचि संसारमें लगा देनेको या विषय-भोगोंके प्रति किसीको प्रोत्साहन देनेको सबसे बड़ी हिंसा मानते हैं।

प्रश्न 26—क्या भगवानकी कृपासे ही सद्गुरु प्राप्त होते हैं?

उत्तर—हाँ। यदि हमारा ऐसा सौभाग्य हो कि हमें भगवद्भक्तोंका संग प्राप्त हो, तो उसकी व्यवस्था भी भगवान ही करते हैं। वे गुरुके द्वारा ही हमें अभय अर्थात् हमारे समस्त प्रकारके भयोंका नाश कर देते हैं। जिनका ऐसा भाग्य नहीं है, उन्हें अनेक प्रकारकी असुविधाओंका सामना करना पड़ता है। जिसका जैसा अधिकार अथवा भाग्य है, उसको उसके अनुरूप ही गुरुकी प्राप्ति होती है।

प्रश्न 27—क्या पूर्णरूपसे आत्मसमर्पण करनेपर ही कल्याण सम्भव है?

उत्तर—अवश्य ही। श्रीगुरुदेव मेरी मूर्खता, मेरी असम्पूर्णता, मेरी असद् विचार-प्रणाली, मेरे अस्थिर सिद्धान्त इत्यादिको पूर्णरूपसे जानते हैं। इसलिए वे मेरे रोगके अनुरूप ही व्यवस्था करते हैं। जिनके निकट उपस्थित होनेसे अन्य किसीके निकट जाने अथवा कुछ सुननेकी आवश्यकता नहीं रह जाती, वे ही सद्गुरु हैं। समस्त मंगलोंके भी मंगलस्वरूप भगवानने मेरा मंगल

जिसके हाथोंमें सौंपा है, मैं यदि ऐसे सद्गुरुके चरणोंमें पूर्णरूपसे समर्पण करूँ तो वे भी पूर्णरूपसे मेरा कल्याण करेंगे। परन्तु यदि मैं कपटता करूँगा तो वे मेरी वञ्चना कर देंगे। वे कहते हैं—"तू न मेरा शिष्य बना और न तूने मेरा शासन स्वीकार किया तथा कपटी लोगोंके विचारोंको सुननेके कारण मेरी बातोंको सुननेके योग्य तेरे पास कान ही नहीं है। अतः तू वञ्चित हो गया।" अतः वे मेरे कल्याणके लिए निष्कपटरूपसे जो व्यवस्था करते हैं, उसे मुझे सिर झुकाकर आदरपूर्वक ग्रहण करना चाहिए। यही शरणागतका लक्षण है।

प्रश्न 28—हमें कहाँपर असुविधा हो रही है?

उत्तर—मैं अपना मंगल चाहता हूँ, परन्तु अमंगलको ही मंगल मान रहा हूँ। मैं अपने रोगको दूर करनेके लिए डाक्टरको बुलाता हूँ, परन्तु जब डाक्टर आकर कहता है कि तुम यह औषध खाओ तथा यह परहेज करो, तो मैं कहता हूँ कि आप मेरी इच्छाके अनुसार चलिए। तो क्या यह डाक्टरसे इलाज कराना हुआ? क्या इस प्रकार मेरा रोग दूर हो सकता है? उसी प्रकार यदि मैं गुरुके पास आकर उनकी बातोंको न सुनकर अपनी इच्छानुसार चलूँ तो मेरा मंगल कैसे हो सकता है? इसलिए जो वैद्य रोगीके इच्छानुसार इलाज करता है, उसे वैद्य नहीं कहा जा सकता। जिस औषधिके द्वारा वास्तवमें ही मेरा रोग दूर हो सकता है, वह औषधि न देकर यदि वैद्य मेरा मन रखनेके लिए मेरी इच्छाके अनुसार औषधि देता है तथा फीस लेकर चला जाता है, उससे मुझे क्षणिक सुख तो प्राप्त होगा, परन्तु क्या रोग दूर होगा?

प्रश्न 29—भक्ति कैसे प्राप्त हो सकती है?

उत्तर—भक्तोंके संगसे ही भक्ति प्राप्त होती है। अन्य किसी उपायसे नहीं। कृष्णप्राप्ति ही जीवोंका सर्वश्रेष्ठ मंगल है। परम सौभाग्यसे ही उसकी प्राप्ति होती है। ब्रह्माण्ड भ्रमण करनेकी इच्छा समाप्त होनेपर जीव भाग्यवान हो जाता है। गुरुकी कृपाके बलसे ही आत्मधर्म प्रकाशित होनेपर जीवको भक्तिलताका बीज प्राप्त होता है। गुरुकी कृपा और कृष्णकी कृपा भिन्न नहीं है। अर्थात् प्रकृष्टरूपसे आनन्दित होकर जो दिया जाता है—यही प्रसादका अर्थ है। महाप्रभुने कहा है—

ब्रह्माण्ड भ्रमिते कोन भाग्यवान जीव।
गुरुकृष्ण प्रसादे पाय भक्तिलता बीज॥

सेवक होकर प्रभुकी सेवा करना ही भक्ति है। भक्तिका तात्पर्य यही है—प्रभुका सुखविधान। अपने सुखके लिए प्रभुकी सेवा भक्ति नहीं कही जा सकती।

गुरुसे ही भक्तिका बीज प्राप्त होता है। माली होकर हमें इस बीजको हृदयरूपी क्षेत्रमें आरोपणकर उसे श्रवण-कीर्तनरूपी जलसे सींचना

पड़ेगा। मैं सेवक हूँ, सेवा ही मेरा धर्म है—इन विचारोंमें प्रतिष्ठित होना ही माली होना होता है। भक्तिलताका बीज जो कि गुरुके निकटसे प्राप्त होता है, कृष्ण ही अहैतुकी कृपाके कारण स्वयं गुरुरूपमें उसे प्रदान करते हैं। उस बीजको प्राप्त करके हमें कृष्णसेवा ही करनी चाहिए। ऐसा न कर यदि मैं सेवासे उदासीन रहूँ, तो अनेक प्रकारकी विपत्तियाँ मुझे घेर लेंगी। गुरुदेवकी कृपाके बलसे भजनकी समस्त प्रकारकी बाधाएँ अवश्य ही दूर हो जाएँगी। भजनकी बाधा दूर होनेपर ही हमारे लिए सुविधा होगी। गुरुके मुखसे तथा साधुओंके मुखसे ही श्रवण होता है। गुरु-वैष्णवोंके निर्देशानुसार कीर्तन इत्यादि भी श्रवणके अन्तर्गत है। श्रीगुरुदेवके चरणकमलोंसे एक क्षणके लिए भी च्युत हो जानेपर हमारे सिरपर विपत्तियोंका पहाड़ टूट पड़ेगा। श्रवण-कीर्तन ही जल है। सींचनेवाला गुरुका आश्रित भक्त है। विश्रम्भ अर्थात् प्रगाढ़ निष्ठा एवं प्रीतिपूर्वक सर्वदा गुरुकी सेवा करना ही हमारा एकमात्र कर्तव्य है। गुरु-वैष्णवोंका संग करना ही हमारा कर्तव्य है। हमें भक्तिलताको यत्नपूर्वक पालन करना चाहिए। हमें अच्छी प्रकारसे भगवानकी सेवा करनी चाहिए। यदि हम इन सबका पालन करेंगे तो कभी भी विपत्तिमें नहीं पड़ेंगे। नहीं तो हमारे मार्गमें असुविधाएँ निश्चितरूपसे आएँगी।

प्रश्न 30—हम जीवित हैं या मृत?

उत्तर—जीव भगवानका सेवक है, भगवानकी सेवा करना उसका धर्म है। सेवा ही चेतनकी जीवित अवस्था है। अतः हम भगवानकी सेवा करनेपर ही जीवित हैं। सेवाविमुख व्यक्ति मृत है। कृष्ण एवं भक्तोंकी सेवा छोड़कर किसीका कोई अन्य कर्तव्य नहीं है। जीव गुरु एवं कृष्णका दास है। अपनी स्वतन्त्रतासे चलनेपर जीवनका सद्व्यवहार नहीं हो सकता। केवल जीवन्मृत अवस्था ही प्राप्त होती है। अर्थात् जो भगवानकी सेवा नहीं करता, वह जीवित होते हुए भी मरेके समान है। कर्मकाण्डमें प्रवृत्ति मार्गपर चलनेवाला व्यक्ति ही मृत है। मरनेके कारण अर्थात् भगवत् सेवासे विमुख होनेके कारण ही असत् कार्योंमें प्रवृत्ति होती है। सत् कार्योंमें नहीं। वास्तव वस्तु भगवानकी सेवासे वञ्चित रहना ही मृत-अवस्था है। जो कृष्णके अधीन न होकर मायाके अधीन हैं, वे ही जीते जी मरेके समान हैं। शारीरिक एवं मानसिक रूपसे समृद्ध होनेकी चेष्टा आत्माका धर्म नहीं है, वह प्राणहीन अथवा अज्ञानका कार्य है। भक्तिमें ही एकमात्र सुख है। इसके अतिरिक्त अन्य सभी वस्तुएँ दुःखप्रद हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि भोगी और त्यागी दोनों ही मृत, दुःखी एवं अशान्त हैं। केवल निष्काम भक्त ही जीवित, सुखी और शान्त है।

प्रश्न 31—बहुत व्यक्तियोंको गुरुके समान समझना क्या उचित है?

उत्तर—नहीं। गुरुकी अवज्ञा नहीं करनी चाहिए, श्रौतवाणीकी निन्दा नहीं करनी चाहिए। बहुत-से व्यक्तियोंको गुरुके समान पूज्य माननेसे गुरुकी

अवज्ञा करना हो जाता है। अद्वय ज्ञान ब्रजेन्द्रनन्दनका आश्रय ग्रहण किए बिना जीवका मंगल नहीं हो सकता। मेरे श्रीगुरुदेव दयाके सागर हैं। उनकी दयासागरका एक बिन्दु ही मुझे आनन्द-सागरमें डुबा सकता है।

गुरुदेव कितनी कृपा नहीं करते हैं? गुरुदेव कृपापूर्वक कहते थे— तुम अपना पाण्डित्य, पवित्रता, अभिज्ञता सबकुछ परित्यागकर मेरे पास आओ। तुम्हें और कहीं जानेकी आवश्यकता नहीं है। तुम्हें घर, पाण्डित्य, प्रतिभा इत्यादिकी आवश्यकता है तथा जितना संयम, संन्यासकी आवश्यकता है, मैं तुम्हें सब दूँगा। तुम केवल मेरे पास आ जाओ। तुम घर, परिवार, पाण्डित्यके पीछे मत दौड़ो, साधारण लोग जिसे अपना प्रयोजन समझते हैं, तुम उसे अपना प्रयोजन मत समझो।

प्रश्न 32—साधु क्या करते हैं?

उत्तर—दुष्ट व्यक्तियोंकी दुष्ट बुद्धिका नाश करना ही साधुका परम कर्तव्य है। साधुका अर्थ ही है कि वे हाथमें खड्ग लेकर यूपकाष्ठ (यज्ञमें वह खम्भा जिसमें बलिका पशु बाँधा जाता है) के निकट खड़े हैं तथा मनुष्यकी वासनाएँ जो कि कभी तृप्त न होनेवाले बकरीके समान हैं, उन वासनाओंका अपनी वाक्यरूप अस्त्रके द्वारा छेदन करते हैं। साधु कभी भी किसीकी भी चापलूसी नहीं करते हैं। साधु यदि किसीकी चापलूसी करे तो वह साधु हो नहीं सकता क्योंकि साधु तो हमारा मंगलकारी ही होगा। परन्तु ऐसा व्यक्ति हमारा मंगल नहीं कर सकता जो हमारी चापलूसी करे। वह तो वास्तवमें हमारा शत्रु है। वैष्णव लोगोंकी असत्संग करनेकी प्रवृत्ति नहीं होती, परन्तु ऐसे असत् संगियोंका कल्याण करनेके लिए वैष्णव लोग अपने वाक्यरूपी अस्त्रके द्वारा ऐसे असत् संगियोंकी असत् प्रवृत्तिको छेदन करते हैं तथा उन्हें सत्संगमें ले आते हैं। यदि हम निष्कपटरूपसे श्रीगुरुदेवके चरणकमलोंका आश्रय ग्रहण करें तो अवश्य ही इसी जन्ममें हमें भगवानका साक्षात्कार होगा।

प्रश्न 33—श्रीविग्रह क्या वस्तु है?

उत्तर—श्रीविग्रह भगवानके अर्चावतार हैं। "प्रतिमा नह तुमि साक्षात् व्रजेन्द्रनन्दन।" स्वयं श्रीशचीनन्दन गौरहरिने जगन्नाथजीका दर्शनकर कहा था— आप विग्रह नहीं हैं, आप साक्षात् व्रजेन्द्रनन्दन श्यामसुन्दर ही हैं। अतः हमें विग्रहको साधारण व्यक्तिविशेषकी मूर्तिकी भाँति नहीं मानना चाहिए। बद्ध जीवकी भाँति भगवानके विग्रहमें देह और देहीका भेद नहीं है। श्रीविग्रह सच्चिदानन्दस्वरूप, परम कृपामय भगवद् अवतार हैं।

प्रश्न 34—सर्वश्रेष्ठ आराधना क्या है?

उत्तर—मधुर रससे नन्दनन्दनकी सेवा ही समस्त साधनोंमें सर्वश्रेष्ठ एवं साध्योंमें भी सर्वश्रेष्ठ है। नन्दनन्दनकी उपासना ही उपासनाकी पराकाष्ठा है।

ब्रजदेवियोंने नन्दनन्दनके ऐश्वर्यसे मुग्ध होकर उन्हें अपने प्रेमीके रूपमें स्वीकार नहीं किया, क्योंकि कृष्णका कोई ऐश्वर्य उन ब्रजदेवियोंको आकर्षित नहीं कर सकता। कृष्णके प्रति उनकी प्रीति तो स्वाभाविक रूपसे ही है। वे सदा–सर्वदा केवल कृष्णके सुखके लिए ही चेष्टा करती हैं। इसी अहैतुकी महती कामनाके कारण ही वे कृष्णको कान्तरूपमें वरण कर पायीं।

प्रश्न 35—चित्तको स्थिर करनेका सहज उपाय क्या है?

उत्तर—एकमात्र कृष्णनामकीर्तनके द्वारा ही मनको स्थिर किया जा सकता है। कर्म, ज्ञान, योग आदिके द्वारा कुछ क्षणके लिए मन स्थिर तो हो जाता है, परन्तु कुछ क्षण पश्चात् वह पुनः पहले जैसा ही हो जाता है, बल्कि उससे भी अधिक चञ्चल हो जाता है।

प्रश्न 36—क्या हमारा शिष्य बनाना उचित है?

उत्तर—हमें शिष्य नहीं करना है। हमें शिष्य बनना है। अर्थात् निरन्तर गुरु एवं कृष्णकी सेवामें नियुक्त रहना है। वैष्णवलोग समस्त वस्तुओंमें ही गुरु दर्शन करते हैं अर्थात् वे सभी वस्तुओंको भगवानकी सेवाकी वस्तु मानते हैं। वैष्णव अभिमान आनेपर विष्णु एवं वैष्णवकी सेवा नहीं हो सकती। मैं कुछ नहीं करता और कुछ नहीं करूँगा, भगवान जैसा करावायेंगे, वैसे करूँगा, ऐसे कर्तृत्व अभिमानरहित, निरन्तर भगवानकी सेवामें रत व्यक्ति ही जीवका कल्याण कर सकते हैं। अर्थात् जीवको कृष्णोन्मुख कर सकते हैं। मैं कुछ नहीं करता, सबकुछ भगवान ही करवा रहे हैं, हृदयमें कपटता रखकर मुखसे ऐसा कहनेपर नहीं चलेगा। वास्तवमें ही मैं भगवानके द्वारा चालित हूँ—ऐसी अनुभूति होनी चाहिए।

प्रश्न 37—यदि ऐसा ही है तो आपने बहुत–से शिष्य क्यों किये?

उत्तर—वास्तवमें आजतक मैंने किसीको शिष्य नहीं बनाया, बल्कि जिन्हें तुम मेरा शिष्य कह रहे हो, वे सभी मेरे गुरुवर्ग हैं।

दूसरोंका संग करनेका तात्पर्य है, उससे कुछ ग्रहण करना। मैंने अपने श्रीगुरुदेवसे जो पाया है, उसके अतिरिक्त मैं किसीसे कुछ भी ग्रहण नहीं करता। अपने गुरुदेवके निर्देशके अतिरिक्त मैं और किसीके निर्देशानुसार कार्य नहीं करता हूँ।

अपने लिए मैं किसीसे कुछ भी ग्रहण नहीं करता हूँ। गुरु एवं कृष्णकी सेवाके लिए श्रद्धा या प्रीतिपूर्वक यदि कोई कुछ देता है, तो उसे आदरपूर्वक ग्रहणकर उसके द्वारा भगवानकी सेवा करनेमें ही मंगल है। किसी वस्तुके प्रति भोगदृष्टि न कर उसे भगवानकी सेवामें लगानेका रहस्य जाननेपर ही भजन–राज्यमें प्रवेश किया जा सकता है।

प्रश्न 38—हमारा सबसे बड़ा कर्त्तव्य क्या है?

उत्तर—यह मनुष्य जन्म क्षणभंगुर एवं अतीव दुर्लभ है। अतः हमें पाषण्डता, अपराध या व्यर्थ कार्योंमें समय नष्ट न कर, सबकुछ छोड़कर हरिभजन करना चाहिए। अनेक जन्मोंके पश्चात् हमें यह मनुष्य जन्म प्राप्त हुआ है। यह मनुष्य जन्म सब जन्मोंसे दुर्लभ—केवल दुर्लभ ही नहीं, बल्कि सुदुर्लभ है। यह अनित्य होनेपर भी परमार्थप्रद है। अर्थात् इसके द्वारा परमार्थको प्राप्त किया जा सकता है। जो बुद्धिमान एवं चतुर हैं, वे साधनके उपयोगी इस शरीरके नष्ट होनेसे पहले ही अन्यान्य विषय वस्तुओंको छोड़कर अपने आत्मकल्याणके लिए चेष्टा करते हैं। ऋषि के प्रश्नों का उत्तर देना आरम्भ किया इसके द्वारा श्रील सूत गोस्वामी जी शिक्षा दे रहे है कि गुरुकरण किये बिना भगवान की भक्ति कदापि सम्भव नहीं हे और भक्ति के बिना भगवान अन्य किसी उपाय से प्राप्त नहीं होते। भक्ति किसे कहते है?

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरूत्तमा॥

गुरुकरण की आवश्यकता, भगवत्ता के तारतम्य से भगवान तारतम्य, श्रीकृष्ण का कंस को मारना तथा ब्रज में कभी भी वापिस लौटकर नहीं आना इत्यादि अनेक विषयों पर विशद आलोचना हुई।

यदि हमें अपना आत्मकल्याण करना है तो हमें सद्गुरुका चरणाश्रय करना होगा। सद्गुरु हमारे बहिर्मुख रुचिके अनुकूल बातें नहीं कहते। हमारा सबसे बड़ा एवं नित्य कर्तव्य कृष्णभजन करना है। वे इसी परम कर्तव्य भगवद् भजनकी शिक्षा ही देते हैं। जगतके लोग हमारी रुचिके अनुकूल बातें कहकर हमारे मनको आकर्षित करते हैं तथा हमारे प्रिय बन जाते हैं। किन्तु जो मेरा ऐसा अकल्याण नहीं करना चाहते, वास्तवमें ही मुझे दुःखी देखकर मेरे कल्याणकी चिन्ता करते हैं। ऐसे परदुःखदुःखी श्रीगुरुदेव ही हमारे परमबन्धु हैं। श्रीमद्भागवत ऐसे मुक्त गुरुदेवके चरणोंमें शरणागत होनेका उपदेश ही दे रहे हैं। हमारा जो कुछ भी है, सबको छोड़कर गुरुदेवके चरणोंमें एकान्तरूपसे आश्रय लेना चाहिए।

प्रश्न 39—वास्तविक सेव्य (सेवा ग्रहण करनेवाला) कौन है?

उत्तर—कृष्ण ही जगतके एकमात्र सेव्य हैं। वे ही समस्त वस्तुओंके प्रभु हैं। कृष्ण ही सभीके एकमात्र सखा, सभी माता-पिताओंके एकमात्र पुत्र, समस्त स्त्रियोंके एकमात्र कान्त (प्रेमी) हैं। कृष्ण जिसके सेव्य वस्तुके रूपमें प्रकाशित होते हैं, वे किसी दूसरेकी सेवा कर ही नहीं सकते।

समस्त कारणोंके कारण कृष्ण हैं। वे ब्रह्म, परमात्मा एवं अन्यान्य विष्णु अवतारोंके भी कारण हैं।

प्रश्न 40—साधु का संग कैसे होगा?

उत्तर—एकाग्रचित्त होकर हरिकथा सुनने पर ही वास्तविक रूप में साधुसंग होता है। साधुसंग होने पर ही अर्थात् साधुओं के श्रीमुख से हरिकथा

श्रवण करने पर ही भगवान के वीर्य और जगत की दुर्बलता को हम समझ सकते हैं। साधुओं के उपदेशानुसार सेवा करते-करते भगवान की सेवा में सुदृढ़ विश्वास, आसक्ति एवं प्रीति प्राप्त होती है। कृष्ण की सेवा में भी कृष्ण के प्रति प्रीति ही जीव का चरम प्रयोजन है।

प्रश्न 41—क्या श्रेयपथ (आत्मकल्याण के मार्ग) में बाधाएँ आती हैं?

उत्तर—वर्तमान समय में प्रेयःकामी (जागतिक वस्तुओं की इच्छा करनेवाला) को देखकर ऐसा लगता है, उसे कोई विशेष प्रकार का कष्ट नहीं है। परन्तु जो आत्मकल्याण (भक्ति) के मार्ग पर चलनेवाले हैं, उन्हें अनेक प्रकार के कष्टों का सामना करना पड़ता है। यदि सूक्ष्मरूप से विचार किया जाये, तो स्पष्ट हो जाता है कि आत्मकल्याण के मार्ग में असुविधाएँ उपस्थित होने पर भी यदि साधक उन्हें सहन कर लेता है, तो उसका आत्मकल्याण निश्चित है। इसके विपरीत जागतिक इच्छाओं वाले व्यक्ति पहले सुखी जैसे दिखने पर भी उनका अन्त बहुत ही कष्टदायक होता है।

प्रश्न 42—चेतन एवं अचेतन में क्या भेद है?

उत्तर—अचिद् वस्तु अथवा जड़ वस्तु में knowing (ज्ञान-शक्ति), willing (इच्छा-शक्ति) एवं feeling (अनुभव-शक्ति) नहीं होती। जड़ वस्तु respond नहीं कर सकती, परन्तु चेतन कर सकती है। हमारे भीतर ओर पशुओं के भीतर चेतन अधिक मात्रा में तथा वृक्षों में अल्प मात्रा में होता है।

प्रश्न 43—क्या मनुष्य परजगत (वैकुण्ठ) की बात बता सकता है?

उत्तर—वैकुण्ठ जगत से आया हुआ व्यक्ति ही वैकुण्ठ जगत की बात बताने में समर्थ होता है। इस जगत का कोई व्यक्ति उस जगत की बात बताने में समर्थ नहीं हो सकता। उस जगत से आये हुए महापुरुषों के श्रीमुख से भगवान की कथाओं को श्रवण करने का सौभाग्य प्राप्त होने पर ही जीव वैकुण्ठ के विषय में जान सकता हैं। इस जगत की विचार प्रणाली के द्वारा उस जगत की वस्तुओं को ग्रहण नहीं किया जा सकता। Transcendental (अधोक्षज) के साथ phenomenal (अक्षज) को एक साथ मिलाना उचित नहीं है। यदि भाग्य अच्छा हो, तो वैकुण्ठ से आये हुए महापुरुष का दर्शन और उनका संग प्राप्त होता है। श्रीचैतन्यदेव कह रहे हैं —

कृष्ण यदि कृपा करने कोन भाग्यवाने।
गुरु अन्तर्यामी रूपे से शिखाय आपने ॥

(चैतन्य चरितामृत)

अर्थात् जिस भाग्यवान व्यक्ति पर कृष्ण कृपा करते हैं, वे स्वयं

अन्तर्यामी रूप में शिक्षा प्रदान करते हैं।

प्रश्न 44—सभी लोग पारमार्थिक बातों को क्यों नहीं समझ पाते हैं?

उत्तर—यदि भाग्य ही नहीं हो, तो किस प्रकार समझ सकते हैं? उसके लिए संस्कार होने चाहिए। जो भाग्यवान हैं वे ही गुरु-वैष्णवों के श्रीचरणों में प्रणत होकर कथा सुनते हैं। इसलिए वे भगवान की कृपा से पारमार्थिक बातों को समझ सकते हैं, परन्तु जो hasty-conclusion (किसी भी वस्तु के निर्णय में जल्दीबाजी) का आश्रय लेते हैं, वे सत्य वस्तु को ग्रहण करने में असमर्थ होते हैं। वे पूर्णज्ञान अर्थात् भगवत् तत्त्व आदि के अनुशीलन में थोड़ा समय भी नहीं दे सकते। हम बाल्यावस्था से जिस समाज में पले हैं, उसमें materialism (भौतिकता) इतनी अधिक परिमाण में हैं कि नित्य या परमार्थ जीवन की आलोचना के लिए एक मुहूर्त समय भी नहीं दे सकते। व्यावहारिक कार्यों में ही हमारे चौबीस घण्टे नष्ट हो जाते हैं। वास्तव में हम क्या वस्तु हैं, इस बात को जानने की चेष्टा नहीं करते हैं। जब कि शास्त्रों का उपदेश है कि मानव जीवन के चौबीस घण्टे ही पारमार्थिक विषय में ही व्यतीत होने चाहिए। बुद्धिमान व्यक्ति का कर्त्तव्य यह नहीं है कि वह अपना अमूल्य जीवन अपनी इन्द्रिय तर्पण के लिए ही गँवा दे।

सभी जीवों को अपने-अपने मंगल के विषय में विचार करना चाहिए। हमें स्वार्थपर होना चाहिए। परन्तु संसार में अधिकांश लोग जागतिक कार्यों में ही नियुक्त रहते हैं। बाल्यावस्था खेलकूद में, युवावस्था संसार धर्म में एवं वृद्धावस्था सम्पत्ति एवं शरीर की रक्षा करने में ही बिता देते हैं। परमार्थ विषय में वे सम्पूर्ण रूप से उदासीन रहते हैं। यही दुःख का विषय है। कुछ लोग कहते हैं—वर्तमान स्वार्थ के लिए—आत्मा के कल्याण की चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि बाल्यकाल में विद्या अध्ययन नहीं करने से युवावस्था में अनेक प्रकार के कष्टों का सामना करना पड़ता है।

जो समाज के कल्याण की कामना करते हैं, वे अपने कल्याण के साथ ही दूसरों के कल्याण की चिन्ता भी करेंगे। चेतन का धर्म भगवत् सेवा, जिससे कि भोग आदि के द्वारा बाधा प्राप्त न हो, उसके लिए चेष्टा करनी चाहिए। कुछ लोग कह सकते हैं कि पाप कार्यों का परित्याग कर पुण्य कर्म करना उचित है; परन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं है। बुद्धिमान व्यक्ति का यही लक्षण है कि वह तात्कालिक कार्यों के साथ नित्य अवस्थान का क्या सम्बन्ध है, पद-पद पर इसका विचार करेगा। इससे विमुख होने पर हमें असुविधाओं में पड़ जायेंगे। वर्तमान काल में कोई कार्य करने पर भविष्य में उसका फल प्राप्त होता है।

समय का सद् व्यवहार न करने पर अनेक प्रकार की असुविधाएँ

घेर लेती हैं। वृद्धावस्था में परलोक की आलोचना का अभिलाषी व्यक्ति संसार की चिन्ताओं में मग्न रहने के कारण किसी प्रकार का उपकार प्राप्त नहीं कर पाता है।

प्रश्न 45—क्या वर्णाश्रम धर्म नित्य है?

उत्तर—जीवमात्र ही बाहरके आवरण (जड़ देह) को आत्मा मानते हैं। मैं नित्य भगवानका सेवक हूँ। भगवानकी सेवा ही मेरा नित्य धर्म है। मैं वर्णी (ब्राह्मण, क्षत्रिय इत्यादि) या आश्रमी (ब्रह्मचारी, गृहस्थ इत्यादि) नहीं हूँ। अतः वर्णाश्रम धर्म मेरा नित्य धर्म कैसे हो सकता है? वर्णाश्रम धर्म अच्छी प्रकारसे पालन करनेपर इस लोकमें तथा परलोकमें सुविधा होती है। जबतक यह जड़ शरीर रहता है, तबतक वर्णाश्रम धर्म भी रहता है। यह जागतिक मंगलके लिए ही उपयोगी है। चौदह लोकोंमें औपाधिक स्थितिमें ही इसकी उपयोगिता है। किन्तु नित्य जगतमें इसकी कोई उपयोगिता नहीं है। स्वयं श्रीचैतन्यमहाप्रभु कहते हैं—मैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अथवा ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यासी भी नहीं हूँ। मेरा सम्बन्ध तो केवल भगवानसे ही है। मैं उनका सेवक हूँ। मैं यदि उन्हें न भूलूँ, तो मेरा मंगल ही मंगल है।

भगवान चेतन हैं, जीव भी चेतन है। जीव भगवानका अंश है। वह भगवानकी भाँति विभु चेतन नहीं है, अणु चेतन है। जीव भगवानके अधीन है। परन्तु वर्तमान अवस्थामें जीव अपनी चेतनता या स्वतन्त्रताका दुर्व्यवहार कर रहा है, इसीलिए उसकी दुर्गति हो रही है। भगवानकी सेवासे च्युत होनेके कारण ही हमारी दुर्गति होती है और भगवानकी सेवामें नियुक्त होनेपर हमारा कल्याण होता है।

प्रश्न 46—चैतन्य महाप्रभु कौन हैं?

उत्तर—चैतन्यदेव दो या दस हजार वर्षके पूर्व नहीं हैं। बल्कि वे नित्य सनातन वस्तु हैं। वे पुरुषोत्तम हैं। वे अनादि, सर्वादि एवं समस्त कारणोंके भी कारण हैं। वे किसी कालमें उत्पन्न नहीं होते। परन्तु भूत, भविष्यत् और वर्तमान—इन तीनों ही काल उनसे उत्पन्न होते हैं। वे विभु वस्तु हैं। वे हड्डी, माँसका कोई लोथड़ा नहीं हैं। वे पुराण पुरुष हैं। वे पुरुष-कर्त्ता हैं। वे ही परब्रह्म, परमात्मा एवं भगवान हैं। वे साक्षात् कृष्ण ही हैं। वे अवतारी हैं, महा भगवान हैं तथा परमेश्वर हैं। वे स्वयं भगवान हैं।

श्रीचैतन्यदेव कृपाम्बुधि (दयाके सागर) हैं। उनके समान दया और कोई कर नहीं सकता। यहाँतक कि भगवानके अन्यान्य अवतार भी इतनी दया नहीं करते। उनकी ऐसी अपूर्व दया अयोग्य व्यक्तिको योग्यता प्रदान करनेके लिए ही होती है। यही अनन्त कालके लिए पूर्ण दया है—भगवानका स्वयंको स्वयं ही दे देना। ऐसे दानकी बात कभी आजतक सुनी नहीं गयी।

उन्होंने जिस प्रेमको दान किया, उसकी सुन्दरताको दर्शन करनेमें

कर्मी, योगी एवं ज्ञानी सर्वथा असमर्थ हैं। केवल भाग्यवान व्यक्ति ही उसे प्राप्त कर सकते हैं। इसीलिए मैं कहता हूँ कि आपलोगोंके जितने प्रकारके विचार हैं, उन सबको छोड़कर चैतन्य महाप्रभुकी कथाओंको श्रवण करनेके लिए समय दो। साधारण मनुष्यसे जिसकी विशेषता है, उसकी कथाओंको श्रवण करनेमें समय देनेपर ही वास्तविक शान्तिका मार्ग अर्थात् भगवद् उपासना प्राप्त होती है। तब भगवानको पुत्र भावसे पालन करनेकी प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। पुरुषके साथ स्त्रियोंके विवाह आदिके द्वारा मानव जीवनकी पूर्णता या शान्ति प्राप्त करनेका जो विचार है, उसके स्थानपर भगवानके विराजमान होनेपर अनित्य बुद्धिसे माताका पुत्रके प्रति पुत्रज्ञान इत्यादि दूर हो जाता है। हम यदि अपने समस्त भावोंको भगवानके चरणकमलोंमें नियुक्त कर सके, तभी उन भावोंकी सार्थकता है। शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर —ये पाँचों रस भगवानमें पूर्णमात्रामें विद्यमान हैं। उन भावोंको भगवानमें नियुक्त न कर अनित्य वस्तुओंमें नियुक्त करनेके कारण ही भगवानके विषयमें ज्ञान प्राप्त नहीं कर पा रहे हैं। भगवद् वस्तु पूर्णज्ञानमयी एवं आनन्दमयी है। उन्हें जाननेके लिए हम बहुत चेष्टा करते हैं, परन्तु हमारे घरके निकट ही वे गोलोकपति मनुष्यरूपमें चैतन्यमहाप्रभु रूपमें जिस बातको कहनेके लिए अवतरित हुए, उसे न सुनकर अन्यान्य प्रकारकी चेष्टाएँ करनेपर उन्हें हम कैसे प्राप्त कर सकते हैं?

प्रश्न 47—गीताके सर्वधर्मान् परित्यज्य जैसी अत्यन्त महत्वपूर्ण बातको महाप्रभुने 'एहो बाह्य' क्यों कहा?

उत्तर—महाप्रभुने गीताके इतने बड़े वाक्यको भी 'एहो बाह्य, आगे कह आर' अर्थात् 'यह बाहरी बात है, इससे आगे कुछ हो तो कहो'—ऐसा रामानन्दजीसे कहा। क्योंकि भक्ति आत्माकी सहज वृत्ति है। उसके लिए भगवानको प्रतिज्ञा-पत्र देकर भक्त करनेकी चेष्टा नहीं करनी पड़ती। भक्त तो प्रीतिवशतः स्वाभाविकरूपमें ही भगवानके सुखके लिए ही सर्वदा व्यस्त रहता है।

पिताको यदि कुछ लालच देकर पुत्रसे अपनी सेवा करानी पड़े तो पुत्रकी महिमा ही क्या रही? कहाँ भक्त स्वयं ही अपनेपनके भावसे भगवानकी सेवा करेंगे, ऐसा न होकर यहाँपर विपरीत देखा जाता है। अर्थात् भगवानको कहना पड़ रहा है कि तुम मेरी सेवा करो, मैं तुम्हें समस्त पापोंसे मुक्त कर दूँगा। यहाँपर भक्त केवल भगवानको ही भूला है, ऐसी बात नहीं, इसीलिए महाप्रभुने इतनी बड़ी बातको भी 'एहो बाह्य' कहकर जगतमें शुद्ध भक्तिकी शिक्षा देनेके लिए ही सर्वोत्तम ब्रजभक्तिके विषयमें जाननके लिए ही 'आगे कह आर' ऐसा कहा है।

प्रश्न 48—परीक्षा क्या चीज है?

उत्तर—छात्रोंको उन्नत श्रेणियोंमें ले जानेके लिए ही अध्यापक लोग

कृपापूर्वक परीक्षा लेते हैं। जो मनोयोगी एवं बुद्धिमान छात्र हैं, उनके लिए परीक्षा आनन्दप्रद होती है; परन्तु जो मनोयोगी नहीं है, पढ़नेमें जिसको रुचि नहीं है, वे ही परीक्षाके नामसे भयभीत एवं दुःखी हो जाते हैं। जो सर्वदा ही भोग-विषयोंकी बातोंका ही प्रचार करते हैं, लोगोंकी रुचिके अनुसार ही बातें कहते हैं, उनके मार्गमें किसी प्रकारकी विपत्ति या बाधाएँ नहीं आतीं। किन्तु जो भगवानकी सेवाके विषयमें, आत्माकी नित्यवृत्तिके विषयमें तथा जीवोंको जीवनसर्वस्व भक्तिकी बातें सुनाते हैं, उनके लिए पद-पदपर विपत्तियाँ ही विपत्तियाँ आती हैं। वे विपत्तियाँ उनको निरुत्साह करनेकी चेष्टा करती हैं। किन्तु जो भक्तिपथके पथिक हैं, उन्हें अच्छी तरहसे जानना चाहिए कि वे विपत्तियाँ और बाधाएँ हमारी भक्तिकी परीक्षा करनेके लिए ही आयी हैं। हमें क्रमशः भक्तिमार्गमें आगे बढ़ानके लिए ही आयी हैं। ऐसे विकट समयपर नामाचार्य श्रील हरिदास ठाकुर, भक्तराज श्रीप्रह्लाद महाराजकी सेवा एवं सहनशीलताके आदर्शको देखकर स्वयंको स्थिर रखना चाहिए। मनुष्य अनित्य वस्तु प्राप्त करनेके लिए चेष्टा करनेके कारण ही आत्मकल्याणसे सैकड़ों जन्मोंके लिए वञ्चित हो जाता है। हजारों उदाहरण देखनेपर भी मनुष्य यदि तुच्छ विषयोंके लिए बाधा-विपत्तियोंकी परवाह न कर अपने प्राणोंतकका परित्याग कर सकता है, तो क्या बुद्धिमान व्यक्ति अथवा भाग्यवान भक्त त्रिकालसत्य वस्तु भगवानके लिए इस नश्वर जीवनको नियुक्त नहीं कर सकता है?

प्रश्न 49—लोग तीर्थों में क्यों जाते हैं?

उत्तर—भक्त एवं भगवान की विहार स्थली ही तीर्थ कहलाती है। सुकृतिवान लोग भक्तसंग, भक्तसेवा और उसके फल से भगवान की सेवा प्राप्त करने के लिए तीर्थों में जाते हैं। पापी लोग अपने पाप करने की प्रवृत्ति को प्रबल रखकर केवल पाप के फल के नष्ट करने के लिए ओर प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए तीर्थों में जाते हैं। किन्तु कृष्ण के प्रिय वैष्णववृन्द अतीर्थों को तीर्थ तथा मलिन तीर्थों को पवित्र करने के लिए ही तीर्थ भ्रमण की लीला करते हैं। वे अपने प्रभु की सेवा में प्रमत्त होकर विप्रलम्भ रूप से अपने प्रभु का अनुसन्धान करते रहते हैं।

प्रश्न 50—क्या भोग और त्याग दोनों का ही त्याग करना चाहिये?

उत्तर—महाप्रभु ने भोग और त्याग दोनों को ही त्याग करने के लिए कहा है। चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा, त्वचा आदि इन्द्रियों के द्वारा रूप, रस, गन्ध आदि विषयों को ग्रहण करना ही भोग है। यद्यपि यह भोग कुछ समय के लिए आनन्ददायक होता है, परन्तु इसका परिणाम बहुत ही भयानक होता है। इसीलिए भोग की अपेक्षा त्याग की महिमा अधिक है। त्याग अथवा वैराग्य बहुत ही अच्छा है, परन्तु जिस वैराग्य या त्याग में 'नेति नेति' कहते हुए विषयों का त्याग करते-करते अन्त में भगवान एवं

भक्तों को भी त्याग देते हैं, यह त्याग भी एक प्रकार से भोग ही है। अर्थात् मायावादी लोग संसार को मिथ्या जानकर संसार की प्रत्येक वस्तु को अनित्य एवं मिथ्या जानकर यह भी सत्य नहीं है, यह भी सत्य नहीं है, कहकर उनका परित्याग कर देते हैं। परन्तु दुर्भाग्यवशतः भगवान एवं भक्ति को भी जागतिक (मायिक) वस्तु मानकर उसका भी त्याग कर देते हैं। वे इस जगत को कष्टमय जानकर इससे मुक्त होना चाहते हैं। इस प्रकार कष्ट न चाहकर मुक्तिसुख प्राप्ति की आशा तो सबसे बड़ा भोग है। जो इस जगत को मिथ्या मानते हैं, कौए की विष्ठा की भाँति अपवित्र मानते हैं, उनका ऐसा विचार सर्वथा भ्रमपूर्ण है। क्योंकि वास्तव में जगत की सृष्टि सर्वशक्तिमान श्रीभगवान ने की है। यदि हम उनकी सृष्टि को अनित्य या मिथ्या मानें, तो इसका अर्थ यह हुआ कि हम भगवान की शक्ति को स्वीकार नहीं करते। जब कि शास्त्रों का वास्तविक अर्थ यह है कि जगत को समस्त वस्तुएँ सत्य हैं, किन्तु नाशवान हैं।

भोग जिस प्रकार किसी व्यक्ति को सांसारिक वस्तुओं को भगवान की सेवा की वस्तु समझने नहीं देता, बल्कि उसके अन्दर यह भाव ले आता है कि मैं ही भोक्ता हूँ। अर्थात् जैसे विषय भोग में फंसा हुआ व्यक्ति स्वयं को ही जगत का भोक्ता अथवा मालिक मानने लगता है, उसी प्रकार त्याग भी किसी को भक्ति से दूर कर देता है। त्याग भी उसे यह समझने नहीं देता कि संसार की सभी वस्तुएँ भगवान की सेवा की वस्तुएँ हैं। वह उसके हृदय में यह भाव उत्पन्न कर देता है कि संसार की प्रत्येक वस्तुएँ दुःखदायी और बन्धन का कारण हैं, अतः उनका परित्याग करने से ही कल्याण हो सकता है। इस प्रकार वह भगवान, भक्ति ओर भक्तों के श्रीचरणों में अपराध कर देता है।

जगत की सभी वस्तुएँ विश्व का वैभव है। रूप, रस आदि सभी इन्द्रियों के विषय हैं। अतः इन्द्रियाँ अपने इन रूप, रस आदि विषयों से कभी भी विमुख नहीं हो सकतीं। यद्यपि कोई–कोई बाह्य इन्द्रियों को जैसे चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा, त्वचा आदि को रोक भी लेते हैं, परन्तु अन्तः–इन्द्रिय मन से उन विषयों को भोग करते रहते हैं। यदि कोई विषयों को त्यागने के उद्देश्य से विषयों को ग्रहण करने वाले बाह्य इन्द्रियों को ही नष्ट करने की चेष्टा करता है, तो वैराग्य प्राप्ति से पहले ही उसे इन्द्रियों के नाश होने पर शारीरिक पीड़ा उठानी पड़ती है।

भक्त विषयों को न तो भोग करता है, न उसका त्याग करता है। वह तो उन समस्त विषय–भोगों को भगवान की सेवा की वस्तु मानकर उन्हें भगवान की सेवा में लगाता है। वे विषयों के प्रति आसक्ति त्यागकर शरीर धारण के लिए जितनी आवश्यकता है, उतना ही ग्रहण करते हैं तथा स्वयं को भगवान का सेवक जानकर निरन्तर भगवान की सेवा में लगे रहते हैं। त्याग एवं भोग आत्मा की वृत्ति नहीं है, सेवा ही आत्मा की नित्य वृत्ति है। मुक्त आत्माएँ (जीव) वैकुण्ठ में अपने प्रभु की सेवा में विभोर रहते हैं।

भाग्यवान बद्धजीव बद्ध अवस्था से मुक्त या शुद्ध होने के लिए भगवान के द्वारा दिए हुए इन्द्रियों एवं विषयों को अपने भोग में नहीं लगाते, तथा न ही उन्हें दुःखमय जानकर उनका त्याग करते हैं। वे तो केवल भगवान की सेवा के अनुकूल विषयों को ग्रहण करते हैं तथा प्रतिकूल विषयों का त्याग करते हैं।

प्रश्न 51—श्रीरूपगोस्वामी प्रभु कौन हैं?

उत्तर—श्रीरूपगोस्वामी प्रभु भगवान के नित्यसिद्ध परिकर हैं। वे जगद्‌गुरु एवं भक्त-सम्राट हैं। वे कृष्णलीला की श्रीरूपमञ्जरी गोपी हैं। वे श्रीगौरसुन्दर के अन्तरंग भक्त हैं। वे जीव तत्त्व नहीं हैं, अपितु जीवों के प्रभु स्वरूपशक्ति तत्त्व हैं। वे श्रीमती राधिकाजी की प्रिय किंकरी हैं।

श्रीगौरसुन्दर के अन्यान्य भक्तों की अपेक्षा श्रीरूपगोस्वामी का विशेष वैशिष्ट्य हैं। वे प्रभु श्रीगौरसुन्दर के अत्यन्त ही प्रिय हैं। वे प्रभु के हृदय के भावों को जिस प्रकार स्पष्ट रूप से जान लेते थे, वैसा अन्य कोई नहीं जान पाता था। क्योंकि श्रीस्वरूप रूप के अनुगत जनों के हृदय में ही श्रीगौरसुन्दर के हृदय का निगूढ़भाव प्रकाशित हो सकता है। श्रीरूपगोस्वामीजी के सभी लोग ऋणी हैं। जब तक श्रीगौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय रहेगा, तबतक श्रीरूपगोस्वामीजी के अपूर्व दान को भुला न सकेगा।

जो श्रीकृष्ण की गोद में, वक्षस्थल में एवं मस्तक पर रहते हैं, अर्थात् कृष्ण जिन्हें सर्वदा अपने कन्धे एवं मस्तक पर धारण करते हैं, अर्थात् जो कृष्ण के अत्यन्त ही प्रिय हैं, वे ही हमारे नित्य उपास्य श्रीरूपगोस्वामी प्रभु हैं। हम उनकी चरणधूलि की ही कामना करते हैं। हमारी आशा-भरोसा एकमात्र श्रीरूपगोस्वामी के चरणों में ही है।

कृष्ण की सेवा कैसे प्राप्त की जा सकती है? इसके उत्तर में श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामी प्रभु कह रहे हैं—श्रीरघुनाथदास गोस्वामीजी की कृपा से ही कृष्ण की सेवा प्राप्त होती है।

हम श्रीरूपगोस्वामी के चरणकमलों से जितनी दूर होंगे, प्रभु श्रीगौरसुन्दर के श्रीचरणकमलों से भी उतनी ही दूर होंगे। श्रीरूपगोस्वामीजी के अनुगत जन ही कृष्णभक्ति सम्पत्ति के अधिकारी हैं। श्रीरूपगोस्वामीजी कृष्णभक्ति के जीवन्त आदर्श हैं। साधारण ऐतिहासिक लोगों की दृष्टि में वे अपने बड़े भाई श्रीसनातन गोस्वामी के शिष्य हैं। परन्तु श्रीसनातन गोस्वामी भी रूपगोस्वामीजी की कृपा की वाञ्छा करते हैं। श्रीसनातन गोस्वामीजी कहते हैं—जिसपर रूपगोस्वामीजी की कृपा नहीं होगी, वे कदापि श्रीराधागोविन्द की सेवा प्राप्त नहीं कर सकते।

कर्मकाण्डी और ब्रह्मज्ञानी जब भक्ति को लोप करने की चेष्टा कर रहे थे, उनके बल का नाश करने के लिए भक्ति का प्रचार करने वाले श्रीगौरसुन्दर के सेनापतियों की आवश्यकता थी। ऐसी स्थिति में श्रीरूपगोस्वामी एवं श्रीसनातनगोस्वामी ही प्रभु के दो प्रधान सेनापति हुए। श्रीरूपगोस्वामी

सेनापति और उनके अनुगत जन उनकी सेना हैं। श्रीस्वरूप दामोदर गौड़ीय वैष्णवों के ईश्वर हैं। वे ही सेना का गठन करते हैं, भक्ति के विरुद्ध अन्याभिलाषी, कर्मी, ज्ञानी एवं योगी सम्प्रदाय को पराजित करने के लिए।

उस रूपानुग सेना के हाथ में किसी प्रकार के अस्त्र-शस्त्र नहीं हैं। उनका तो एकमात्र अस्त्र है—कीर्तन। उन भक्तिविरोधी सम्प्रदायों से और दुःख से कैसे अपनी रक्षा करनी चाहिए, प्रभु श्रीगौरसुन्दर ने प्रयाग में इसकी शिक्षा श्रीरूपगोस्वामी को अपनी शक्ति संचरितकर प्रदान की। उन सेनापतियों ने अपनी सेना के द्वारा जैसा युद्ध किया, उसकी आलोचना करने पर हम भी भक्ति विरोधी सम्प्रदायों के विचारों के विरुद्ध गोली चलाकर असद्वृत्ति, कर्माग्रह, फलकामना, अन्याभिलाषिता, पाषण्डता, नास्तिकता, बिद्धभाव इत्यादि को नष्ट कर सकते हैं।

श्रीजीवगोस्वामी रूपानुग-सैन्यसिंह हैं। उन्होंने अपने अमोघ विचाररूपी बाण के द्वारा समस्त प्रकार के असत् मतों का खण्डन किया। श्रीरूप-सेनापति के अनुगत हैं—श्रीजीवगोस्वामी एवं श्रीरघुनाथदास गोस्वामी। श्रीरूपगोस्वामी उनके दासों के निकट जिस दुर्लभ सम्पत्ति को रख गये हैं, उसे हम श्रीनरोत्तम ठाकुर और श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के निकट प्राप्त कर सकते हैं। यदि हम वास्तव में ही निष्कपटरूप से उस अमूल्य सम्पत्ति को चाहते हैं, तभी हम श्रीरूपगोस्वामी की सम्पत्ति उस सेवा सम्पत्ति को पा सकते हैं। श्रीरूपगोस्वामी जी का सौन्दर्य, माधुर्य, अलौकिकी असामान्या अहैतुकी अमन्दोद दया-कृपा-पराकाष्ठा की प्राप्ति होने पर कुरूप एवं विरूपानुगत्य नहीं रहता और सर्वत्र ही सुरूप एवं सुदर्शन होता है। तब विश्वभर के लोग जिस जड़ रूप के लिए पागल रहते हैं, उसे कुरूप जानकर उस पर थुकेंगे।

जिस रूप के द्वारा कृष्ण की सेवा की जाती है, इस समय वह उपाधि द्वारा ढका हुआ है। उपाधियाँ दो प्रकार की होती हैं। मानसिक उपाधि और शारीरिक उपाधि। उस रूप का विरोधी होकर कोई कर्मी, अन्याभिलाषी, ज्ञानी एवं कोई योगी के रूप में सजा हुआ है। कभी-कभी मन से सोचता है कि मैं मनुष्य हूँ, देवता हूँ, पण्डित हूँ, मूर्ख हूँ, धनी हूँ, गरीब हूँ, पिता हूँ, पुत्र हूँ, ब्राह्मण हूँ, संन्यासी हूँ। धन-सम्पत्ति का रूप, स्त्री का रूप, प्रतिष्ठा का रूप हमें आकर्षित कर लेता है तथा उन्हें प्राप्त करने के लिए हम क्या कुछ नहीं करते? श्रीरूपगोस्वामी ने श्रीगौरसुन्दर के जिस परमाकर्षक रूप के विषय में बताया है, उस रूप को प्राप्त करने के लिए क्या हमारे हृदय में एक बार भी लोभ नहीं जागेगा?

सेवोन्मुख, निष्कपट एवं दैन्यमय प्रीति-चक्षुओं के द्वारा ही श्रीरूपगोस्वामी जी के चरणकमलों का दर्शन हो सकता है। हमारा भजन, पूजन, सर्वस्व, यह एवं परकाल जब सब श्रीरूपगोस्वामी के चरणकमल ही बन जाएँगे, तभी श्रीचैतन्यमहाप्रभु को पूर्णरूप से प्राप्त किया जा सकता है। अतः श्रीरूपगोस्वामी के चरणकमल ही हमारे लिए एकमात्र आशा और

भरोसा हैं। उनकी कृपा ही हमारी एकमात्र अवलम्बन है। यही प्रार्थना है—

आददानस्तृणं दन्तैरिदं याचे पुनः पुनः।
श्रीमद्रूपपदाम्भोजधूलिः स्याज्जन्मजन्मनि॥

अर्थात् मैं दाँतों में तिनका धारणकर (अति दीनहीन भाव से) यही प्रार्थना करता हूँ कि जन्म-जन्मों तक श्रीरूपगोस्वामीजी के चरणकमलों की धूलि बन जाऊँ।

प्रश्न 52—कर्म और लीलामें क्या भेद है?

उत्तर—कर्म और लीलामें आकाश-पातालका भेद है। कर्म बहिर्मुख जड़ इन्द्रियोंके द्वारा किये जाते हैं, परन्तु लीला सेवोन्मुख चिद् इन्द्रियोंके द्वारा होती है। कर्मकी भूमिका जगत है, अर्थात् कर्म जगतमें ही होता है। कर्मका आधार स्थूल या सूक्ष्म देह है अर्थात् स्थूल या सूक्ष्म देहसे ही कर्म किये जाते हैं। कर्म अनित्य हैं। क्योंकि वे अनित्य शरीरसे किये जाते हैं। लीलाएँ नित्य हैं, क्योंकि वे चिन्मय इन्द्रियोंके द्वारा होती हैं। कर्म मायाबद्ध जीवके लिए त्रितापभोग या दण्डस्वरूप है। परन्तु लीला सर्वतन्त्र स्वतन्त्र स्वराट् पुरुषोत्तमकी निरंकुश इच्छासे उत्पन्न आनन्दमय क्रीड़ामात्र है। लीलाकी भूमिका चौदह लोकों (भूलोक, भुवर्लोक इत्यादि) से अतीत बिरजा नदी तथा ब्रह्मलोक (मुक्तिलोक) से भी ऊपर वैकुण्ठ और गोलोक है। लीलाएँ लीलामय भगवानकी लीलाशक्तिकी इच्छासे ही जगतमें प्रकाशित होती हैं। ऐसा होनेपर भी इन्द्रियातीत अचिन्त्य स्वभावके कारण वह जागतिक गुणोंसे लिप्त नहीं होती हैं। यही गौड़ीय दर्शनका विचार है।

प्रश्न 53—क्या प्रकृति या माया जगत-सृष्टिका मूल कारण है?

उत्तर—गुणमयी माया कभी भी जगतका मुख्य कारण नहीं हो सकती। महाविष्णुके द्वारा ईक्षणके माध्यमसे शक्तिके सञ्चरित होनेपर ही गुणमयी माया जगत-सृष्टिका गौण कारण होती है। जिस प्रकार लोहेमें अग्नि प्रवेश करनेपर लोहेमें जलानेकी शक्ति आ जाती है, ठीक उसी प्रकार प्रकृति या मायाका द्रव्यरूप कारणत्व अजागलस्तन (बकरीके गलेके स्तन) की भाँति ही है। गुणरूप अंशमें जिस मायाको निमित्त-कारण बताया गया है, उसमें भी कृष्ण ही मूल निमित्त-कारण हैं। नारायण कुम्हार स्थानीय मुख्य निमित्त-कारण हैं, माया चक्रदण्ड (घड़े बनानेमें प्रयुक्त किये जानेवाले चक्र एवं दण्ड) स्थानीय गौण निमित्तकारण है। जिस प्रकार कुम्हारके बिना घड़ा नहीं बन सकता, उसी प्रकार कृष्णके बिना भी जगत नहीं हो सकता। अतः जगत-सृष्टिके मूलकारण भगवान हैं। माया गौणकारण है। कारणार्णवशायी पुरुष दूरसे मायाके प्रति ईक्षण करते हैं। उससे दो कार्य होते हैं। प्रथम उनके (कारणोदकशायीके) किरण-कण स्वरूप अनन्त जीव मायामें प्रविष्ट होते हैं। द्वितीय वे अपने अङ्गके आभाससे मायाका स्पर्शकर अनन्त ब्रह्माण्डोंकी सृष्टि करते हैं। अङ्गका आभास अङ्गमिलनका आभासमात्र है, वास्तविक अङ्गमिलन

नहीं है, 'वे भगवान मायासे युक्त होकर आते हैं'—इस चिन्ताधाराकी भाँति नहीं है। कृष्ण ही प्रत्येक ब्रह्माण्डमें एक-एक स्वरूप धारणकर प्रविष्ट होते हैं। अतः कृष्ण ही मूल जगतकारण हैं। शास्त्र कहते हैं—

कृष्णशक्त्ये प्रकृति हय गौणकारण।
अग्निशक्त्ये लौह जैछे करये जारण॥

(चैतन्य-चरितामृत)

परव्योम (वैकुण्ठ) के बाहर ज्योतिर्मय ब्रह्मधाम है, उसके बाहर कारणसमुद्र है। चिन्मयधाम कारणशून्य है, परन्तु कारणमयी है। इन दोनोंके मध्यवर्ती स्थानको चिन्मयजलनिधि कारणसमुद्र कहा जाता है। उन जलशायी भगवानका ईक्षण ही उससे बाहर विद्यमान मायाको लक्ष्यकरके सृष्टि आदि कार्य करते हैं। माया उस कारणसमुद्रको स्पर्श नहीं कर सकती। अतः भगवानका ईक्षण मायामें प्रविष्ट होकर मायाको क्रियावती बनाता है।

प्रश्न 54—किसकी सेवा सर्वश्रेष्ठ है?

उत्तर—पद्मपुराणमें शिवजी पार्वतीजीसे कह रहे हैं—

आराधनानां सर्वेषां विष्णुराराधनं परम्।
तस्मात् परतरं देवि तदीयानां समर्चनम्॥

जगतमें जितनी प्रकारकी पूजाएँ प्रचलित हैं, उन पूजाओंमें भगवान श्रीहरिकी पूजा ही सर्वोत्तम है। जो उन सर्वोत्तम पूज्य भगवान श्रीहरिकी पूजा करते हैं, उन भगवद् भक्तोंकी पूजा तो और भी अधिक श्रेष्ठ है। ऐसे भक्तोंकी पूजा तो स्वयं भगवान भी करते हैं। भगवान सर्वाधिक पूज्य हैं। श्रीगुरुदेव उन भगवद् भक्तोंमें अग्रणी हैं। अतः इससे स्पष्ट हो जाता है कि भगवान भी जिसकी पूजा करते हैं, उसकी सेवा-पूजा ही सबसे श्रेष्ठ है।

मद्गुरुः जगद्गुरुः, मन्नाथः जगन्नाथः। मेरे गुरु जगद्गुरु हैं। मेरे गुरुके विद्वेषी व्यक्ति भगवानके भी विद्वेषी हैं। इतना ही नहीं, वे सारे जगतके विद्वेषी हैं, मनुष्यमात्रके विद्वेषी हैं। जबतक शिष्यके हृदयमें ऐसे विचार नहीं आ जाते, तबतक वह गुरुसेवक नहीं है। तबतक श्रीगुरुदेवके चरणकमलोंमें स्वयंको आत्मसमर्पित नहीं कर सकता। तबतक वह तृणादपिसुनीच एवं अमानी-मानद होकर हरिकीर्तन नहीं कर सकता। गुरुसेवाके समान अन्य कोई मंगलप्रद कार्य नहीं है। समस्त आराधनाओंमें भगवानकी आराधना सर्वश्रेष्ठ है। भगवानकी आराधनासे भी श्रीगुरुदेवकी सेवा श्रेष्ठ है, जबतक साधकके हृदयमें ऐसा दृढ़विश्वास नहीं आ जाता, तबतक उसका गुरुपदाश्रय करना नहीं हुआ। मैं आश्रित हूँ, गुरुदेव मेरे एकमात्र आश्रय, पालक एवं रक्षक हैं—ऐसे विचार उसके हृदयमें कदापि उत्पन्न नहीं हो सकते। **सर्वस्वं गुरवे दद्यात्**—इस शास्त्रवाणीके अनुसार जबतक श्रीगुरुदेवके चरणोंमें अपना सर्वस्व समर्पित न किया जाय तथा प्राण, अर्थ, बुद्धि, वाक्य, मन, विद्या, शरीर इत्यादिके द्वारा प्रीतिपूर्वक उनकी सेवा न की जाय, तबतक विषयोंके प्रति आसक्ति नष्ट नहीं हो सकती। तबतक निष्काम नहीं हुआ जा सकता। स्वसुखकामनारूप भवरोग

दूर नहीं हो सकता। भय, चिन्ता, दुःख, मोह नहीं कट सकते। सम्पूर्णरूपसे श्रीगुरुदेवके चरणोंमें आश्रय लेनेसे ही निर्मोह (मोहरहित), निर्भय एवं अशोक (शोकरहित) हुआ जा सकता है। यदि हम निष्कपटरूपसे कृपा प्राप्त करना चाहते हैं, तो श्रीगुरुपादपद्म निष्कपटरूपसे हमें समस्त प्रकारके मंगल प्रदान करते हैं।

श्रीगुरुदेव मर्त्त्य जगतके नहीं हैं। वे अमर एवं नित्य वस्तु हैं। श्रीगुरुदेव नित्य हैं, उनकी सेवा नित्य हैं तथा उनके सेवक भी नित्य हैं। अतः हमें कितना आशा-भरोसा रखना चाहिए कि कोई भी नाशवान् वस्तु हमारी नहीं है? अर्थात् एकमात्र नित्यवस्तु श्रीगुरुपादपद्म एवं उनके सेवकोंके प्रति ही हमें आशा एवं भरोसा रखना चाहिए।

हम वश्य तत्त्व (अधीन तत्त्व) हैं, श्रीगुरुदेव ईश्वर वस्तु (सेवक भगवान) हैं। श्रीकृष्ण विषय-विग्रह तथा श्रीगुरुदेव आश्रय-विग्रह हैं, जिनका आश्रय ग्रहण करनेसे हम भगवानको प्राप्त कर सकते हैं। स्वयं भगवान कृष्ण विषय-विग्रह होनेपर भी आश्रय-विग्रह गुरुतत्त्वके रूपमें विराजमान हैं। श्रीगुरुदेव ईश्वर एवं भगवान होनेपर भी स्वयं भगवानकी सेवाका आचरण करके हमें शिक्षा देते हैं। वर्तमानमें हमारी संसारके प्रति आसक्ति एवं कर्त्ता अभिमान है। इसलिए हमें इतना दुःख एवं उद्वेग प्राप्त हो रहा है। इस भयङ्कर कर्त्ताभिमानसे गुरुदेव ही हमारी रक्षा कर सकते हैं। किन्तु क्या हम रक्षा चाहते हैं? हम तो इसी संसारमें ही अटके रहना चाहते हैं। यदि हमारी संसारसे मुक्त होनेकी इच्छा होती, तो साक्षात् भगवत्स्वरूप गुरुदेव—भगवद् अवतार श्रीगुरुदेव, भगवानके प्रतिनिधि श्रीगुरुदेवकी जी-जानसे सेवा करनेपर भी हमारा मन नहीं भरता। क्या हमारी चित्तवृत्ति ऐसी हो रही है? गुरुदेवको सोलह आना (शत प्रतिशत) देनेकी बात तो दूर रहे, हमारे हृदयमें एक आना देनेकी भी प्रवृत्ति नहीं है। यदि हम सारवस्तुको सार न करें, तो सारवस्तु कैसे प्राप्त की जा सकती है? अर्थात् गुरुदेव ही सारवस्तु हैं, यदि हम उनका आश्रय ग्रहण न करें, तो सारवस्तु भगवानको कैसे प्राप्त कर सकते हैं? श्रीगुरुदेवके प्रति भगवत् बुद्धि न रहनेके कारण ही हमारी ऐसी दुर्गति हो रही है, संसारके प्रति आसक्ति क्षण-प्रतिक्षण बढ़ रही है। इसलिए मैं कह रहा हूँ—श्रीगुरुदेवके प्रति मर्त्त्यबुद्धि या साधारण मनुष्यबुद्धि मत करो। वे तुम्हारे अनन्तजीवनदाता हैं, तुम्हारे भवरोगके वैद्य हैं। सब प्रकारसे तुम्हारे रक्षक, पालक, उपकारक तथा तुम्हारे निःस्वार्थ बन्धु हैं।

हम यदि पूर्णरूपसे श्रीगुरुदेवके श्रीचरण-कमलोंका आश्रय ग्रहण करनेके लिए तैयार न हों, तो जितने परिमाणमें हम कपटता करेंगे, उतने परिमाणमें स्वयं ही ठगे जायेंगे। हमें यह बात सर्वदा स्मरण रखनी चाहिए। अन्यथा सद्गुरु चरणाश्रय करनेपर भी हमारा कुछ विशेष उपकार नहीं हो सकता। समस्त मंगलोंके भी मंगलस्वरूप भगवान श्रीकृष्णचन्द्रने कृपापूर्वक हमारे कल्याणके लिए हमें जिनके हाथोंमें अर्पण किया है, यदि मैं सम्पूर्णरूपसे उन श्रीगुरुदेवके श्रीचरणकमलोंका आश्रय ग्रहण न करूँ, समर्पण

न करूँ, अपना सर्वस्व उन्हें न देकर कपटता करूँ, तो वे सम्पूर्णरूपसे हमारा मंगल कैसे करेंगे? यदि हम हृदयसे संसारके प्रति आसक्त होकर बाहरसे लोगोंको दिखानेके लिए भक्तिका ढोंग करें, तो सर्वज्ञ श्रीगुरुदेव हमारे इस ढोंगको जानकर हमारी वञ्चना कर देंगे—**'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी।'** [श्रद्धाके अनुरूप ही सिद्धि होती है अर्थात् जैसी श्रद्धा होती है, वैसी ही सिद्धि होती है।] हम गुरु-वैष्णवोंकी सेवा न कर माया अर्थात् आत्मीय बन्धु-बान्धवोंकी सेवामें ही व्यस्त रहकर जब गुरु और वैष्णवोंकी वञ्चना करते हैं, तब अन्तर्यामी श्रील गुरुदेव कृपापूर्वक हमसे कहते हैं—"तुम मेरे शिष्य नहीं बने, तुम मेरा शासन स्वीकार नहीं करते हो, मेरी बात तुम नहीं सुनते हो, तुम्हारे हृदयमें पाप है। विश्वासघातक मनकी बात एवं सांसारिक लोगोंके आदर्श एवं विचारोंकी बात सुननेके कारण तुम्हारे कान मेरी बात सुननेके योग्य नहीं रह गये। अतः तुम वञ्चित हो गये हो।"

इसलिए मैं पुनः कह रहा हूँ कि श्रीगुरुदेव निष्कपटरूपसे हमारे लिए जो आदेश निर्देश प्रदान करते हैं, उन्हें आदरपूर्वक सिर झुकाकर ग्रहण करना चाहिए। अन्यथा अकल्याण निश्चित है। हे मेरे बन्धुवर्ग! तुमलोग भोगी मत बनो। इन्द्रियोंके द्वारा विषयभोग मत करो। क्योंकि यह सारा जगत श्रीगुरुसेवाका उपकरण है तथा कृष्णसेवाकी वस्तु है। गुरुसेवाकी वस्तुओंमें भोगबुद्धि होनेसे मंगल नहीं हो सकता। प्रत्येक वस्तुमें गुरुसम्बन्ध दर्शन नहीं करनेसे अमंगल अनिवार्य है।

प्रश्न 55—प्रभुपाद! आप कृपापूर्वक गीताके 'सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' श्लोकका अर्थ बता दीजिए?

उत्तर—गीतामें श्रीभगवानने समस्त प्रकारके धर्मोंको छोड़कर उनके चरणोंमें शरण लेनेकी बात कही है। जिन भगवानने गीतामें ही उपदेश प्रदान किया है कि स्वधर्म छोड़कर परधर्म ग्रहण करनेसे अमंगल होता है। अपने धर्ममें स्थित रहते हुए मरना भी अच्छा है, परन्तु किसी भी अवस्थामें भयावह परधर्मका अनुष्ठान करना अनुचित है, वे भगवान ही यहाँपर समस्त धर्मोंको परित्याग करनेकी बात कह रहे हैं। इस प्रकार भगवानकी इन परस्पर विरोधी जैसी प्रतीत होनेवाली बातोंका क्या सामञ्जस्य है? देखिए, मनुष्य अपनी विद्या, बुद्धि एवं पारदर्शिताके माध्यमसे पुरुषोत्तम भगवानको नहीं जान सकता। भगवानकी कृपासे ही भगवानको जाना जा सकता है। यदि हम उन कृष्णचन्द्रके औदार्यमयलीला प्रकटकारी श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुकी आलोचना करें—जो स्वयं कृष्ण होकर भी कृष्णकी कथाओंका प्रचार करनेके लिए जगतमें अवतीर्ण हुए, उनकी कथाओंको एकाग्रचित्त होकर श्रवण करें, तभी इस प्रश्नका उत्तर सम्पूर्णरूपसे हम प्राप्त कर सकते हैं। महाप्रभु जब संन्यास ग्रहण करनेके पश्चात् काशीमें चन्द्रशेखरके घर निवास कर रहे थे। उस समय बंगालके बादशाह हुसैनशाहके प्रधानमन्त्री शाकरमल्लिक (श्रीसनातन प्रभु) वहाँपर उपस्थित हुए। उन्होंने महाप्रभुसे पूछा—

के आमि, केन आमाय जारे तापत्रय।
इहा नाहि जानि—केमने हित हय॥

अर्थात् हे प्रभु! आप कृपाकरके बतलाइए कि मैं कौन हूँ तथा मुझे आधिदैविक, आधिभौतिक, आध्यात्मिक ये तीनों ताप किसलिए कष्ट दे रहे हैं? मैं यह भी नहीं जानता कि मेरा कल्याण कैसे होगा? इसके उत्तरमें महाप्रभुने जो कहा, उसे सुनें—

जीवेर स्वरूप हय कृष्णेर नित्य दास।
कृष्णेर तटस्था शक्ति भेदाभेद प्रकाश॥
कृष्ण भुलि सेइ जीव अनादि बहिर्मुख।
अतएव माया तारे देय संसारादि दुःख॥
साधु शास्त्र कृपाय यदि कृष्णोन्मुख हय।
सेइ जीव निस्तरे माया ताहारे छाड़य॥
ताते कृष्ण भजे करे गुरुर सेवन।
माया जाल छुटे पाय कृष्णेर चरण॥

अर्थात् जीव स्वरूपतः कृष्णका नित्यदास है तथा कृष्णकी तटस्था शक्तिसे प्रकट होता है। तटस्थाशक्तिका कृष्णसे भेद एवं अभेद दोनों ही हैं। कृष्णको भूलनेके कारण ही वे जीव अनादि कालसे बहिर्मुख हो गये हैं। इसीलिए माया उन्हें नाना प्रकारके सांसारिक दुःख प्रदान करती है। यदि सौभाग्यवश वह कभी साधु एवं शास्त्रकी कृपासे कृष्णोन्मुख होता है, तभी वह मायाके फन्देसे मुक्त हो सकता है। तब वह गुरुकी सेवा करते हुए कृष्णका भजन करता है, जिससे अति शीघ्र उसका मायाजाल छिन्न-भिन्न हो जाता है तथा वह कृष्णके चरणोंको प्राप्त कर लेता है।

जीव भगवान कृष्णके सेवक हैं। कृष्ण जीवके नित्य प्रभु हैं। कृष्णकी सेवा करना ही जीवका नित्य एवं प्रधान कर्तव्य है। हम देह नहीं हैं, देही—अणुचैतन्य आत्मा हैं, यही शास्त्रोंका उपदेश है। किन्तु शास्त्रकी इन बातोंको भूलकर जब हम इस शरीर एवं मनको ही 'मैं' मानता हैं, तभी समस्त प्रकारकी असुविधाएँ आकर हमें घेर लेती हैं। तब हम देहकी उत्पत्ति जिस कुलमें हुई है, जिस देशमें हुई है, उस कुल एवं देशको ही अपना मान लेते हैं। तब हम स्वयंको ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, म्लेच्छ, स्त्री इत्यादि अभिमान करते हैं। देहके परिवर्तन अथवा आयुके भेदसे स्वयंको बालक, वृद्ध तथा युवक इत्यादि मानते हैं। उस शरीरको 'मैं' जानकर हम स्वयंको भारतवासी, बंगाली, इंग्लैण्डवासी, मुसलमान, मारवाड़ी, पंजाबी तथा बिहारी इत्यादि मानने लगते हैं। इसके अतिरिक्त आश्रमीके अभिमानसे स्वयंको ब्रह्मचारी, गृहस्थ एवं संन्यासी मानने लगते हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि इन अवस्थाओंमें ही परस्पर धर्मोंमें भेद एवं बहुतसे धर्मोंकी उत्पत्ति हुई है।

गीताके वक्ता स्वयं भगवान कृष्ण हैं। वे कह रहे हैं कि आत्मा नित्य है, अपरिवर्तनीय है। देह अनित्य एवं वृद्धि-क्षययुक्त है। जो देहके परिवर्तनके साथ ही परिवर्तनहीन आत्माका परिवर्तन या उसका जन्म-मृत्यु

स्वीकार करते हैं, वे मूर्ख हैं। अतः इस श्लोकमें 'सर्वधर्म' का अर्थ है—देह और मनके प्रति आत्मबुद्धिके कारण जितने प्रकारके धर्म उत्पन्न हुए हैं। अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये चारों वर्ण, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास ये चारों आश्रम एवं इनके अतिरिक्त अन्त्यज आदि धर्म, लौकिक निज भोग या त्यागपर पारलौकिक धर्म, विशेषरूपसे कृष्णसेवाधर्मके अतिरिक्त चतुर्दश भुवनोंमें जितने धर्म हैं, वे सभी धर्म उस 'सर्वधर्म' के ही अन्तर्गत हैं, जिन्हें कृष्णने परित्याग करनेके लिए कहा है।

देह एवं मनके अनित्य धर्मको परित्यागकर आत्माके नित्यधर्म भगवानकी सेवा करनी चाहिए, करुणामय भगवानने कृपापूर्वक हमें यह शिक्षा प्रदान की है। परन्तु मायाभ्रमित जीव आसानीसे इस उपदेशको ग्रहण नहीं कर सकता। इसका प्रमाण इसी श्लोककी दूसरी पंक्तिमें मिलता है। इसमें भगवान कह रहे हैं—**'अहं त्वां सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि।'** अर्थात् मैं तुम्हें समस्त पापोंसे मुक्त कर दूँगा। अनित्य, जड़ देह एवं मनके धर्मको छोड़कर नित्यधर्म भगवानकी सेवाके लिए अग्रसर होते समय आसक्ति एवं मोहके कारण जीव विचार करता है कि इन समस्त धर्मोंको छोड़नेसे मुझे पाप लगेगा। हाय! हाय! कितने दुःखकी बात है कि जिस नित्य धर्म (भगवानकी सेवा) का पालन न करनेसे महा अपराध और महापाप होता है, उसके प्रति उदासीन होकर मायाबद्ध जीव अनित्य धर्मोंको नित्य मानकर उसको परित्याग करनेमें पाप समझ रहा है। इतना ही नहीं, उसके लिए शोक भी कर रहा है। इसीलिए भगवान उससे कह रहे हैं कि इन अनित्य धर्मोंको परित्याग करनेसे तुम्हें किसी प्रकारका पाप स्पर्श नहीं करेगा। फिर भी यदि तुम्हें इसका भय है, तो मैं तुम्हें उन समस्त पापोंसे मुक्त कर दूँगा।

स्वयं भगवान श्रीकृष्ण इस जगतमें आकर भगवद् भजनकी बातें बता गये हैं। परन्तु क्या हम उनकी बातोंको मान रहे हैं? क्या उनके आदेश व निर्देशोंका पालन कर रहे हैं? यदि हम भगवानके उपदेशोंको न मानें, शास्त्रकी बात न सुनें, अपने मनके अनुसार ही आचरण करें, अकर्तव्यको कर्तव्य, कर्तव्यको अकर्तव्य मानें, साधु-गुरु एवं शास्त्रोंके वचनोंकी अवहेलना करें, अपना कर्तव्य स्वयं ही निर्धारित करें, तो दोष किसका होगा?

प्रश्न 56—अनर्थोंको दूर करनेका उपाय क्या है?

उत्तर—हरिभजन न करनेपर जीव कर्मी, ज्ञानी या अन्याभिलाषी हो जाता है। इसीलिए सर्वदा ही भगवानको 'हरेकृष्ण महामन्त्र' का उच्चारणकर पुकारना चाहिए। अपने सामर्थ्यके अनुसार संख्यापूर्वक हरिनाम करनेसे अनर्थ दूर होते हैं, साथ ही जाड्य और आलस्य इत्यादि भी दूर भाग जाते हैं। निरपराध होकर हरिनाम करनेसे समस्त प्रकारकी सिद्धियाँ सहजरूपमें ही प्राप्त हो जाती हैं।

प्रश्न 57—हमें किस प्रकार रहना चाहिए?

उत्तर—बहिर्मुख लोगोंके मुखसे निरर्थक ग्राम्य कथाएँ निकलती ही रहेंगी। हमें ऐसी बातोंमें मनको नहीं लगाना चाहिए। यदि हमारी अपने कर्तव्य मार्ग (भगवानकी सेवा मार्ग) पर अग्रसर होनेकी इच्छा हो, तो किसी भी प्रकारकी बाधा-विपत्ति हमें लेशमात्र भी विचलित नहीं कर सकती। जगतके बहिर्मुख लोगोंका सम्मान करना चाहिए, किन्तु उनके व्यवहार इत्यादिको नहीं सीखना चाहिए। मन ही मन उनका परित्याग करना चाहिए। शरणागति, प्रार्थना, प्रेमभक्तिचन्द्रिका इत्यादि ग्रन्थोंका अवश्य ही पाठ करना चाहिए। वास्तवमें शास्त्रीय साधुसंग ही लाभदायक है। भजनकी शिक्षा प्राप्त करनेके लिए साधुसंग नितान्त आवश्यक है।

प्रश्न 58—तृणादपि सुनीचता किसे कहते हैं?

उत्तर—वैष्णव सर्वोत्तम होनेपर भी स्वयंको तिनकेसे भी अधिक निकृष्ट मानते हैं। वास्तवमें वे अधम अथवा नीच नहीं हैं, बल्कि भगवानके प्रिय पात्र हैं। भक्त सभीके पूजनीय होते हैं। इसीलिए उनके लिए नीच शब्दका उपयोग न कर सुनीच शब्दका प्रयोग किया गया है।

मैं गुरुपादपद्मकी चरणधूलि हूँ। मैं गुरु एवं कृष्णका दास हूँ, यह अप्राकृत अभिमान ही तृणादपि सुनीचता है। जीवके प्रति दया, नाममें रुचि एवं वैष्णव-सेवा—महाप्रभुकी ये तीन शिक्षाएँ हैं। तृणादपि सुनीचताका अर्थ कपटता नहीं है, मुख-ही-मुखमें या बाह्य अभिनयमें नीचता प्रदर्शन नहीं है। किन्तु तृणादपि सुनीचताका अर्थ—वास्तविक रूपसे कीर्तनमें अधिकार अर्थात् नाममें रुचि—श्रीनामका सेवक अभिमान है। गुरु-वैष्णवोंकी सेवा ही नाममें रुचिका द्वारस्वरूप है। गुरु-वैष्णवोंकी सेवा ही तृणादपि सुनीचता है। अवैष्णवोंके निकट नीचता नहीं, बल्कि वैष्णवोंके निकट ही नीचता, दैन्य प्रकाश या कृपाभिक्षा करनी चाहिए। हर किसीके आगे दैन्य नहीं दिखाना चाहिए। यही महापुरुषोंका उपदेश है। गुरु-वैष्णवोंके विद्वेषी एवं पाषण्डियोंके निकट, रावणके निकट अथवा ढोंगी विप्रके निकट नीचता प्रदर्शन, वैष्णव सेवा या तृणादपि सुनीचता नहीं है। उसके द्वारा कभी भी कीर्तनमें अधिकार या नाममें रुचि नहीं हो सकती। वास्तवमें इसके द्वारा जीवके प्रति हिंसा करना ही हो जाता है। रामभक्त हनुमानजीने लंकाको जलाकर भस्म कर दिया। यही वास्तविक रूपमें तृणादपि सुनीच का भाव है।

प्रश्न 59—भगवान जो करते हैं, क्या वह सब मंगलप्रद ही होता है?

उत्तर—अवश्य ही। दयामयका सभी कुछ दया ही है। मंगलमयके विधानमें अमंगल रह ही नहीं सकता है। भगवान जब जो करते हैं, सब मंगलके लिए ही करते हैं। जो इन्द्रियतर्पणमें व्याघातको अमंगल या भगवानकी निष्ठुरता मानते हैं, वे बद्धजीव दावा (पासा) के केवल एक चालको ही समझते हैं। चौथे अथवा पाँचवें चालके बाद क्या होगा, वे

इसका अनुमान नहीं लगा सकते हैं।

श्रीचैतन्यदेव एवं उनके भक्तोंकी दया अमन्दोदय दया (जिस दयाके द्वारा किसीका अपकार नहीं होता) है। उनकी दयामें किसी भी प्रकारका अमंगल नहीं रहता है। एक रोगीको जब वैद्य कड़वी औषधि प्रदान करता है, तो रोगी वैद्यको दयाहीन एवं निष्ठुर कहता है, किन्तु जब उसका रोग दूर हो जाता है, तब वह समझ पाता है कि वैद्यने कड़वी औषधि प्रदानकर उसपर कैसी कृपा की।

प्रश्न 60—मन्त्रमें जो नमः शब्द है, उसका अर्थ क्या है?

उत्तर—अहंकार अथवा स्वतन्त्रताका परित्यागकर प्रणत या शरणागत होना ही नमः शब्दका अर्थ है। हे गुरुदेव! हे कृष्ण! आजसे मैं आपका आश्रित सेवक हो गया। आप कृपापूर्वक मेरा मार्गदर्शन करें, अपनी सेवामें नियुक्त करें। आजसे मैंने अपना कर्तृत्व अथवा अहंकारका सम्पूर्णरूपसे परित्याग कर दिया है। यही मेरी प्रार्थना है।

मैं कर्त्ता हूँ, मैं भोक्ता हूँ, मैं द्रष्टा हूँ, मैं पालक हूँ—यह सब जड़ अभिमान परित्याग करनेका नाम ही नमस्कार है। मैं कर्ता हूँ—ऐसी दुर्बुद्धि श्रीगुरुदेव की कृपा से दूर होने पर ही वास्तविक दीक्षा एवं दिव्य ज्ञान प्राप्त होता है।

कृष्णप्रिय श्रीगुरुदेवके प्रकट कालमें ही उनकी विश्रम्भ (प्रीतिपूर्वक) सेवा द्वारा सिद्धि प्राप्त कर लेनेमें ही बुद्धिमत्ता है। किन्तु उन अतिमर्त्त्य श्रीगुरुदेवके प्रति प्रीतिविशिष्ट न होनेके कारण यदि सिद्धि प्राप्त न कर पाएँ, उन्हें हृदयका देवता जानकर हृदयसे यदि सम्यक्‌रूपमें निष्काम भावसे उनकी सेवा न कर पाएँ, तो अवश्य ही हमें वञ्चित रहना पड़ेगा। मेरे एकमात्र रक्षक, एकमात्र उद्धारकर्त्ता, एकमात्र निरुपाधिक बन्धुको अपने निकट पाकर भी मैंने अपने दुर्भाग्यके कारण उन्हें खो दिया। ऐसा मेरा दुर्भाग्य है! गङ्गाके तटपर आकर भी जल लानेके लिए पुनः मरुस्थलकी ओर मैं दौड़ रहा हूँ। रत्नभण्डारको पाकर रत्न प्राप्तिकी आशासे पुनः मनोहारी दुकानमें काँचके टुकड़ोंकी चमकसे लुब्ध हो रहा हूँ, कैसा सर्वनाशका विषय है।

जो सुबुद्धिवान् होते हैं, वे निष्कपट तथा अन्याभिलाषशून्य होकर श्रीगुरुदेवके चरणोंमें शरणागत होकर आनुगत्यमय जीवन व्यतीत करनेके लिए दृढ़सङ्कल्प करते हैं। अन्यथा वञ्चित होना पड़ता है।

प्रश्न 61—भगवानका दर्शन कैसे होगा?

उत्तर—भगवान स्वप्रकाश वस्तु हैं। वे दयाके सागर हैं। सेवोन्मुख होनेपर भगवान कृपाकर अपना आकार कैसा है, अपना रंग कैसा है, इन समस्त वस्तुओंको चेतन (जीवमात्र) की वृत्तिमें प्रकाशित कर देते हैं।

भोक्ता सर्वदा ही कर्त्ताभिमानमें व्यस्त रहता है। कर्त्ताभिमानसे युक्त होकर उनको जो दर्शन करनेकी प्रचेष्टा की जाती है, उससे भगवानका दर्शन

नहीं होता। गुरु–वैष्णवोंके श्रीमुखसे श्रवणके फलसे शुद्ध चित्तमें ही भगवानका दर्शन सम्भव है। किसी भी प्रकारकी जड़ अभिज्ञता चेतन वस्तु (भगवान) का दर्शन नहीं कर सकती। चेतनकी वृत्तिद्वारा, चिन्मय चक्षुओंके द्वारा ही चेतन–वस्तु भगवानका दर्शन होता है। केवलमात्र सेवक ही सेव्यका दर्शन पाते हैं। सेव्य कृपाकर सेवकको ही दर्शन देते हैं। सर्वप्रथम अन्तर्दर्शन, तत्पश्चात् बहिर्दर्शन होता है।

प्रश्न 62—हमलोग सम्पूर्णरूपसे भगवानपर निर्भर क्यों नहीं हो पा रहे हैं?

उत्तर—अणुचेतन हमारा एकमात्र स्वभाव शरणागत होना, बृहत् चेतनका आश्रय ग्रहण करना है। परन्तु बहिर्जगतकी वस्तुओंमें आविष्ट रहनेके कारण भगवानके प्रति हमारी श्रद्धा नहीं हो पाती है। जो सांसारिक किसी वस्तुकी आकांक्षा नहीं करते हैं, जो अकिञ्चन हैं, प्राकृत जगतकी कोई भी वस्तु जिसके लिए अवलम्बनीय नहीं हैं, केवल वे ही भगवानके प्रति श्रद्धाविशिष्ट हो सकते हैं एवं भगवानपर निर्भर रह सकते हैं। जीवन्तशास्त्र साधुओंके श्रीमुखसे वीर्यवती कथाओंको श्रवण करते–करते हम भगवानपर सम्पूर्णरूपसे निर्भर रह सकते हैं।

प्रश्न 63—हमारा मंगल कब होगा?

उत्तर—साधुओंके श्रीमुखसे भगवानकी कथाओंको सुनकर जब हम उनका आनुगत्य करते हैं, तभी हमारा मंगल हो सकता है। यदि pottery work (कुम्हारका कार्य) करना हो, तो उसके लिए अभिज्ञ कुम्हारके निकट शिक्षा लेकर ही कार्य आरम्भ किया जाता है। मिठाई तैयार करते समय हलवाईसे उचित विधिको जान लेना पड़ता है। उसी प्रकार किसी श्रेष्ठ अभिज्ञ व्यक्तिका आनुगत्य न कर स्वतन्त्ररूपसे अपना कल्याण करनेका विचार करनेपर अनेक प्रकारकी असुविधाएँ उपस्थित हो जाती हैं। उस समय हम शास्त्रोंका वास्तविक अर्थ न समझकर मनोधर्मके वशीभूत हो जाते हैं।

श्रीगुरुपादपद्मोंका आश्रय करना ही हमारा कर्त्तव्य है। आम्नाय धारा (गुरु–परम्परा) को ग्रहण किये बिना सत्य वस्तुकी उपलब्धिका अन्य उपाय नहीं है। निष्किञ्चन महापुरुषों की चरणधूलि में अभिषिक्त हुए बिना हमें कदापि भगवत् दर्शन नहीं हो सकता। वैष्णवगण ही हमें भोग्यदर्शन या कुदर्शन के हाथ से रक्षा कर सकते हैं। जैसे ही हम श्रीगुरुपादपद्मों का आश्रयकर गुरु के होकर कृष्णसेवा को अपना जीवन बनाते हैं, तभी वास्तव सत्य की उपलब्धि होती है।

प्रश्न 64—विषयी कौन है?

उत्तर—जो केवल अपने सुख के लिए ही विषयों का संग्रह करते हैं, विषय ही जिनके भोग के उपकरण या यन्त्र हैं, वे ही विषयी हैं। परन्तु

जो भगवान की सेवा के लिए जागतिक विषयों का संग्रह करते हैं, वे विषयी नहीं बल्कि वे भगवान के सेवक हैं। बाह्य क्रियाकलापों के द्वारा भोगी एवं भक्तों को नहीं पहचाना जा सकता, केवल उनके उद्देश्य के द्वारा ही उन्हें पहचाना जा सकता है। जो अपनी इन्द्रिय-तृप्ति के लिए भोजन करते हैं, वे भोगी हैं। परन्तु जो भगवान की सेवा के लिए शरीर की रक्षा करते हैं और शरीर की रक्षा के लिए ही भोजन करते हैं, वे भक्त हैं। भक्त, भोगी भी नहीं होता तथा त्यागी भी नहीं होता है। भक्त तो भगवान के सेवक होते हैं। वे अपना धन, विषय और जागतिक समस्त प्रकार की वस्तुओं को भगवान की सेवा में लगाते हैं।

प्रश्न 65—क्या श्रीनाम-संकीर्तन ही मुख्य भजन है?

उत्तर—श्रीमन्महाप्रभु एवं गोस्वामीवर्ग के सिद्धान्त के अनुसार श्रीनाम-संकीर्तन ही मुख्य भजन है। भक्ति के जितने भी श्रवण, कीर्तन, स्मरण, वन्दन, अर्चन आदि अंग हैं, उनमें कृष्ण नाम-संकीर्तन ही श्रेष्ठतम है। श्रवण, स्मरण आदि अन्यान्य भक्ति के अंग नाम-संकीर्तन के अधीन ही हैं। श्रीनाम की कृपा न होने पर लीलाओं की स्फूर्ति नहीं होती। कीर्तन का त्यागकर केवल स्मरण आदि की चेष्टा तो केवल जड़प्रतिष्ठा मात्र है। साधारण मनुष्य के द्वारा रचित या कल्पित कीर्तन, कीर्तन नहीं होता, अपितु वह तो नामापराध युक्त कीर्तन होता है। ऐसा कीर्तन कृष्ण की इन्द्रियों को तृप्त नहीं कर सकता। उससे तो केवल अपनी इन्द्रियाँ ही तृप्त होती हैं। यह भजन के नाम पर भोग या अपराध ही है। श्रीचैतन्य महाप्रभु के मुख-निःसृत श्रीनाम-संकीर्तन ही भजन है। उस नाम-संकीर्तन के द्वारा ही कृष्ण प्रेम प्राप्त होता है। इसीलिए नाम-संकीर्तनको साधुओं ने श्रेष्ठतम भजन बताया है। वह स्वयं प्रकाशित नाम-रूपी अमृत सेवोन्मुख किसी एक ही इन्द्रिय में आविर्भूत होकर अपने मधुर रस से समस्त इन्द्रियों को तृप्त कर देता है। भगवान श्री गौरांगदेव ने ऐसा ही बताया है।

भजनेर मध्ये श्रेष्ठ नवविधा भक्ति।
कृष्णप्रेम, कृष्ण दिते धरे महाशक्ति॥
तार मध्ये सर्व श्रेष्ठ नाम संकीर्तन।
निरपराधे नाम लइले पाय प्रेमधन॥

अर्थ—भक्ति के समस्त अंगों में नवविधा भक्ति (श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, वन्दन, अर्चन, दास्य, सख्य, आत्मनिवेदन) श्रेष्ठ है, जो कृष्ण एवं कृष्ण-प्रेम को देने में समर्थ है। परन्तु इन नौ प्रकार की भक्ति के अंगों में नाम कीर्तन ही सर्वश्रेष्ठ है। अपराधों को त्यागकर नाम लेने पर अतिशीघ्र कृष्ण-प्रेम धन प्राप्त हो जाता है।

प्रश्न 66—क्या साधुसंग की विशेष आवश्यकता है?

उत्तर—अवश्य ही। साधुसंग अवश्य ही करना चाहिए। परन्तु साधु-

संग भी अधिकार के अनुसार होता है। साधु के पास रहने से ही साधुसंग होता है, ऐसी बात नहीं है। साधुओं से बहुत दूर रहने पर भी साधु-संग होता है तथा एक घर में रहकर भी साधुसंग नहीं होता है। साधु-संग का सुयोग प्रदान करने के लिए ही मठों में उत्सव आदि किये जाते हैं। लोगों को गृहव्रत से (जिन्होंने अपने घर, स्त्री-पुत्र आदि के पालन पोषण का व्रत ले रखा है, उसे गृहव्रत कहते हैं।) कृष्णव्रत बनाने के लिए, नाम में रुचि तथा गुरु वैष्णवों की सेवा का सुयोग देने के लिए मठों में उत्सवों का आयोजन किया जाता है।

मठों में जो उत्सव किये जाते हैं, भागवत पाठ होता है और हरिकथाएँ होती हैं, उनका मूल उद्देश्य है—जीवों की कृष्णसेवा की वृत्ति को जगाना। सत्संग में हरिकथा श्रवण करने पर भगवान की सेवा की वृत्ति जागृत हो जाती, और जीव का परम कल्याण हो जाता है। केवल भक्त ही साधु हैं। भोगी या त्यागी साधु नहीं हैं। भक्तसाधु का संग करने पर जाना जाता है कि भोग पथ जिस प्रकार हानिकारक है, त्याग का पथ भी उसी प्रकार अकल्याणकारी हैं। फल्गु वैरागी (कपटी वैरागी) बीच में कल्याण का कोई उपाय न देखकर त्याग का पथ ग्रहण कर लेता है। जड़ जगत से प्रीति एवं घृणा दोनों कृष्ण विमुखता ही है। अतएव भोग एवं त्याग रूप इन दोनों प्रकार की भगवत विमुखताओं का त्याग न करने पर भक्ति का आश्रय पूर्णरूप में नहीं लिया जा सकता। शुद्धभक्ति का विचार न हो जाने पर त्यागी या भोगी होना पड़ेगा।

प्रश्न 67—गुरु नित्यानन्द की कृपा कैसे प्राप्त की जा सकती है?

उत्तर—मैं बहुत योग्य हूँ—यह परमार्थ मार्ग का विचार नहीं है। मेरे समान दीन-हीन अयोग्य व्यक्ति इस पृथ्वी में दूसरा नहीं है—ऐसा अनुभव होने पर ही श्रीगुरु नित्यानन्द की कृपा होती है।

यदि हम गुरुदेव के निकट रहने का अभिनय मात्र करें तो अवश्य ही असुविधा में फँस जायेंगे और यदि गुरुदेव से दूर रहें तो भी कल्याण होने वाला नहीं है। परन्तु यदि गुरुदेव और वैष्णवों के प्रति अपनत्व, श्रद्धा एवं प्रीति रहे, तो दूर रहो या पास रहो कल्याण अवश्य ही हो जायेगा।

एक दिन एक धनी व्यक्ति का पुत्र मेरे पास आया। वह कठोर वैराग्य धारण किये हुए था। घुटने के ऊपर तक उसने एक मैला सा कपड़ा पहन रखा था। उस समय मैं श्रीमायापुर में जमींदारी का कार्य देखता था। मुझे विषय कार्य करता देखकर उसकी मेरे प्रति अश्रद्धा हो गयी तथा वह मुझे छोड़कर कहीं और जाकर असत्संग में फंस गया, जिसके फलस्वरूप कुछ दिनों में ही उसका पतन हो गया। साधु के सद्-उद्देश्य को न समझकर केवल बाहरी क्रिया-कलापों के द्वारा साधु को पहचानने की चेष्टा करने पर सर्वनाश ही होता है।

प्रश्न 68—वास्तविक रूप में कृष्ण की सेवा कैसे होती है?

उत्तर—कृष्णभक्त गुरु एवं वैष्णवों की सेवा द्वारा ही वास्तव में कृष्ण की सेवा होती है। किन्तु सहजिया लोग इसे समझ नहीं पाते। वे सोचते हैं कि जो कृष्ण की पूजा करता है, वही बड़ा है। इसीलिए वे स्वयं को वैष्णव मानकर दूसरों की सेवा लेते हैं। स्वयं गुरु एवं वैष्णवों की सेवा छोड़ देते हैं। किन्तु जो श्रीचैतन्य महाप्रभु एवं उनके भक्तों की बातें सुनते हैं, वे जानते हैं कि गुरु एवं वेष्णवों की सेवा के द्वारा ही सचमुच कृष्ण की सेवा होती है। कृष्णभक्तों की सेवा छोड़कर भगवान की सेवा का कुछ मूल्य नहीं है। जो गुरु-वैष्णवों की सेवा त्यागकर कृष्ण-सेवा या नाम-भजन का अभिनय करते हैं, वे पग-पग पर अपराध करते हैं। अपराध रहने पर कृष्ण-सेवा और नाम-सेवा नहीं हो सकती। किन्तु जो गुरु एवं वैष्णवों की सेवा करते हैं, उसी से उनकी कृष्ण-सेवा और नाम-सेवा होती है। जो कृष्णभक्त, गुरु-वैष्णवों की सेवा आदर और प्रीतिपूर्वक करते हैं उन पर ही चैतन्यदेव तथा गोस्वामियों की कृपा होती है। जब मेरी धारणा थी कि मैं गणित शास्त्र का बहुत बड़ा पण्डित हूँ, तब सौभाग्य से मुझे श्रीगुरुदेव के दर्शन हुए। मेरी सत्यवादिता, निर्मल नैतिक जीवन और पाण्डित्य आदि की जब उन्होंने उपेक्षा की, तो मैंने विचार किया कि जो मेरे जैसे व्यक्तिकी उपेक्षा कर सकते हैं, वे न जाने कितने योग्य होंगे। जब उन्होंने मुझे धक्का दिया, तो मैं समझ पाया कि मेरे समान हीन एवं घृणित व्यक्ति जगत में नहीं है। मैं जिस पाण्डित्य और नैतिक चरित्र को जितना महत्त्व देता हूँ, ये महात्मा उसे लेशमात्र भी महत्त्व नहीं दे रहे हैं। तब मैं समझ पाया कि इस महान व्यक्ति के पास कुछ अमूल्य वस्तु है। तब मैंने विचार किया यह व्यक्ति परम दयालु है या अत्यन्त अहंकारी। तब मैं भगवान की शरण में गया और भगवान की कृपा से ही जान पाया कि ऐसे निष्किञ्चन महापुरुषों की कृपा के बिना आत्मकल्याण का कोई उपाय नहीं है। जब मेरी ऐसी सुबुद्धि हुई, तभी मैं उनकी शरणागत होकर कृतार्थ हुआ।

जब अपने श्रीगुरुदेव से मैंने धक्का खाया, उस घटना से समझ पाया कि सांसारिक लोगों को जब तक ऐसा धक्का न दिया जाय तब तक वे सुधर नहीं सकते। इसीलिए मैं सभी से कह रहा हूँ कि पृथ्वी में जितने भी लोग हैं, मैं उनमें से सबसे बड़ा मूर्ख हैं, आप लोग मेरे जैसा मूर्ख मत बनना। तुम लोग अपने पाण्डित्य इत्यादि का अभिमान त्यागकर भगवान की सेवा में नियुक्त हो जाओ। तब तुम्हारा जीवन धन्य हो जाएगा। भगवान श्रीकृष्ण से मैंने जिसे परम मंगल समझा, उसे मैं आप लोगों से कह रहा हूँ।

प्रश्न 69—जिन गृहस्थ एवं मठवासी भक्तों के पास धन है, यदि वे उसके द्वारा भगवान की सेवा अच्छी तरह से न करें तो क्या अपराध होता है?

उत्तर—जगद्गुरु श्रील जीवगोस्वामी प्रभु ने श्रीभक्तिसन्दर्भ में कहा है —

ये तु सम्पत्तिमन्तो गृहस्थास्तेषाम् तु अर्चनमार्ग एवं मुख्यः।

अर्थात् जो धनवान् गृहस्थ हैं, उनके लिए अर्चनमार्ग ही मुख्य है। उन्हें अच्छी प्रकार से भगवान की सेवा करनी चाहिए। भागवत में भी ऐसा ही कहा गया है—

अयं स्वस्त्ययनः पन्था द्विजातेर्गृहमेधिनः।
यच्छ्रद्धयाऽऽप्तवित्तेन शुक्लेनेज्येत पूरुषः॥

गृहस्थ भक्त अर्थ के द्वारा, श्रद्धा और प्रीतिपूर्वक श्रीहरि की सेवा पूजा करेंगे। इसी में उनका मंगल है, किन्तु अर्थ रहने पर भी यदि कोई गृहस्थ भक्त निष्किञ्चन भक्त की भाँति केवल श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि का ही पालन करता है ओर भगवान की सेवा नहीं करता है, तो उसे वित्तशाठ्य दोष लगता है। अतः गृहस्थ भक्त एवं मठवासी भक्त श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि करते हुए भी कृपणता एवं शठता का परित्यागकर अर्थ के द्वारा सामर्थ्य के अनुसार हरि-गुरु-वैष्णव की सेवा करेंगे। क्योंकि शठता एवं कृपणता को देखकर भगवान श्रीहरि अप्रसन्न हो जाते हैं, जिससे उसे भक्ति में सिद्धि प्राप्त नहीं हो पाती। भगवान श्रीगौरांगदेव ने भी गृहस्थ भक्तों के कर्त्तव्य के विषय में कुलीन ग्रामवासियों को बताते हुए कहा है—

प्रभु कहे—कृष्णसेवा वैष्णव सेवन।
निरन्तर कर कृष्णनाम—संकीर्तन॥

प्रभु बोले—तुम लोग कृष्णसेवा एवं वैष्णवसेवा करना और निरन्तर नाम संकीर्तन करते रहना।

प्रश्न 70—जीवों का मंगल कैसे होगा?

उत्तर—भगवत् ज्ञान के अभाववशतः स्वतन्त्रता जीव को विपत्ति में डाल देती है। बहिरंगा माया विमुख-जीवों को विषयविग्रह बनाकर भोक्ता अभिमान से प्रमत्त कर देती है अर्थात् उसके अन्दर ऐसा अभिमान उत्पन्न कर देती है कि मैं ही भोग करने वाला हूँ। तब वह अपने स्वरूप 'मैं भगवान का दास हूँ' को भूलकर विपदग्रस्त हो जाता है और अनेक प्रकार के जड़ीय अभिमानों के कारण कष्ट भोग करता है। संसार में भ्रमण करते-करते जीव कभी सौभाग्य वश भगवान की कृपा से उसकी भगवान की सेवा में रुचि उत्पन्न होती है। इस प्रकार वह भाग्यवान जीव भगवान से अभिन्न आश्रय जातीय भगवान श्रीगुरुदेव के श्रीचरणकमलों में श्रद्धायुक्त होकर उनकी सेवा के द्वारा भजन राज्य में प्रवेश करता है। सद्गुरु का आश्रय ग्रहण करके साधुसंग के प्रभाव से जीव जब गुरुदेव के चरणकमलों को समस्त प्रकार के मंगलों का भण्डार जानकर उन्हें आश्रय जातीय भगवान के रूप में अनुभव करता है, तभी उसकी सेवा प्रवृत्ति प्रबल होती है। सौभाग्यवश जिन जीवों को भगवान के परम प्रियतम श्रीगुरुदेव के

चरणकमलों का आश्रय लेने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, केवल वे ही शुद्धभक्ति प्राप्तकर माया के चंगुल से बच सकते हैं। श्रीगुरुदेव के चरणकमलों में अपराध होने पर सांसारिक वस्तुओं में आसक्ति बढ़ जाती है। जिसके फलस्वरूप जीव भक्तिपथ से च्युत होकर आपात मधुर भोगपथ या त्यागपथ में अग्रसर हो जाता है। अर्थात् वह या तो स्वर्ग इत्यादि सुख अथवा मुक्ति-सुख के लिए चेष्टा परायण हो जाता है। इसलिए भाग्यवान सज्जन व्यक्ति गुरुदेव के आनुगत्य में निरन्तर भगवान की सेवा में नियुक्त रहते हैं। ऐसी अवस्था में उसे प्रेय विचार अर्थात् भोगपर विचार रुचिकर नहीं लगते।

प्रश्न 71—भक्तगण घर या मठ में कैसे रहेंगे?

उत्तर—मठवासी भक्त हों या गृहस्थ भक्त हों, वे सभी बाहर से विषयीप्रायः (विषयी की भाँति) रहकर हृदय से भक्ति के प्रति प्रगाढ़ निष्ठा रखेंगे।

बाह्यरूप से भक्त के रूप में सजकर हृदय से विषय में आसक्त, गृहासक्त, अर्थासक्त, प्रतिष्ठाकामी या विषयी नहीं होंगे। यह कपटता है एवं भक्ति में भयंकर बाधक हैं। मर्कट वैराग्य (बन्दर का वैराग्य) अत्यन्त ही घृणित है। यह जीव को भक्तिपथ से च्युतकर अधःपतित कर देते हैं। महाप्रभु के आदर्श एवं शिक्षा ही हमारे लिए ग्रहणीय है। श्रीमन्महाप्रभु ने श्रीरघुनाथदास गोस्वामीजी को कहा—

मर्कट वैराग्य ना कर लोक देखाञा।
यथायोग्य विषय भुञ्ज अनासक्त हञा॥
अन्तरे निष्ठा कर, बाह्ये लोक-व्यवहार।
अचिरात् कृष्ण तोमाय करिबेन उद्धार॥

अर्थात् रघुनाथ! बन्दर की भाँति लोगों को दिखाने के लिए वैराग्य मत करो। जितनी आवश्यकता है, उतने ही परिमाण में विषयों को अनासक्त होकर ग्रहण करो। हृदय से निरन्तर भक्ति में ही निष्ठा रखना, परन्तु बाहर से लोक व्यवहार करना। इस प्रकार अति शीघ्र ही कृष्ण तुम्हारा उद्धार करेंगे।

प्रश्न 72—क्या संन्यासी होने से ही संसार से मुक्ति हो जाती है?

उत्तर—नहीं! संन्यासी होना और संन्यासी का वेश धारण करना एक चीज नहीं है। संन्यास का तात्पर्य यह है कि संन्यासी भुक्ति एवं मुक्ति की स्पृहा का परित्याग करेगा। जो धर्म, अर्थ, काम मोक्ष की इच्छा त्यागकर कृष्ण की सेवा को ही अपने जीवन का सार बना लेते हैं, वे ही यथार्थ संन्यासी हैं। यथार्थ संन्यासी होने का अर्थ—महाजनों का अनुसरण एवं भगवान के प्रति एकान्तिक निष्ठा है। संन्यासी का केवल वेशमात्र धारण करना महाजनों का अनुकरण (नकल) अथवा ढोंग के अतिरिक्त कुछ नहीं

है। महाप्रभु ने कहा है—

परात्मनिष्ठा मात्र वेश धारण।
मुकन्दसेवाय हय संसार तारण ॥

अर्थात् वेश धारण का (संन्यास ग्रहण का) उद्देश्य केवल भगवान के प्रति निष्ठा ही है। भगवान की सेवा करने से संसार से उद्धार हो जाता है। संन्यास ग्रहण कर तन, मन, वचन, अर्थ, विद्या, बुद्धि तथा विषय आदि के द्वारा प्रीतिपूर्वक कृष्ण की सेवा करने पर ही संसार से मुक्ति प्राप्त होती है तथा भक्त हुआ जा सकता है। भगवान की सेवा के बिना आत्मकल्याण सम्भव नहीं है। गृहस्थ हो अथवा मठवासी, सभी को प्राण देकर भी भगवान की सेवा करनी होगी। तभी भगवान प्रसन्न हो सकते हैं एवं वे हमारा कल्याण कर सकते हैं। कार्पण्य एवं कपटता का परित्यागकर सेवा करने पर इसी जन्म में ही भगवान की कृपा प्राप्त हो जायेगी।

प्रश्न 73—क्या बाह्य क्रियाकलाप, विद्या, धन अथवा दरिद्रता को देखकर भक्त को पहचाना जा सकता है?

उत्तर—कभी नहीं। भोगीव्यक्ति जड़-विलासी एवं विषयी होते हैं और त्यागी व्यक्ति सांसारिक विषयों को दुःखजनक जानकर उनसे विरक्त होते हैं। भोगी एवं त्यागी दोनों ही सकाम और अभक्त होते हैं। इसीलिए वे भक्तों के सेवाभाव एवं उनके सहज वैराग्य की बातों को नहीं समझ सकते। भक्त बाहर से जन्म, ऐश्वर्य, विद्या, सौन्दर्य आदि जागतिक ऐश्वर्य से युक्त होने की लीला करें अथवा इन समस्त प्रकार के ऐश्वर्यों से रहित होने की लीला ही क्यों न करें, उन्हें इसके अनुसार पहचानने की चेष्टा करने पर वञ्चित होना पड़ेगा। क्योंकि शास्त्र वर्णन करते हें कि वैष्णवों की क्रियाओं को समझना देवताओं के लिए भी मुश्किल है। कर्मी एवं ज्ञानी, भोगी—त्यागी अपनी स्थूल दृष्टि के द्वारा भक्त को कैसा भी दर्शन क्यों न करें, वास्तव में वे भक्त के वास्तविक स्वरूप का दर्शन नहीं कर पाते। छह ऐश्वर्यों से परिपूर्ण भगवान के भक्तों के पास किसी प्रकार के ऐश्वर्य का अभाव नहीं होता। परन्तु वे उस ऐश्वर्य को भगवान की सेवा में समर्पित कर देते हैं, भोगी या त्यागियों की भाँति उन विषयों को मायिक जानकर भोग या त्याग नहीं करते हैं। अतः भगवान के भक्तों के पास ऐश्वर्य देखकर अथवा नहीं देखकर उनके प्रति अश्रद्धा या उनका अनादर नहीं करना चाहिए। संसार के समस्त विषयों एवं समस्त प्रकार के ऐश्वर्यों का सद्व्यवहार करना केवल भक्त ही जानते हैं।

भक्त भोगी भी नहीं होते, त्यागी भी नहीं होते। वे इन दोनों से भिन्न केवल कृष्ण की इन्द्रियों को ही सन्तुष्ट करने वाले होते हैं। भक्तों की कृपा से ही ऐसे सुन्दर विचार अथवा बुद्धि प्राप्त होती है। अतः समस्त प्रकार के अहंकार का परित्याग कर भगवान के भक्तों के श्रीचरणकमलों में आत्मसमर्पण कर सदैव हरि कीर्तन और हरिसेवा करने की बुद्धि उत्पन्न

होने पर ही भगवान या भक्तों को अपनी बुद्धि से जानने का विचार नष्ट हो जायेगा तथा भगवान की सेवा के अतिरिक्त अन्यान्य सभी प्रकार की इच्छाएँ नष्ट हो जायेंगी। इस प्रकार हमारा नित्य मंगल हो जायेगा।

प्रश्न 74—सद्गुरु के श्रीचरणकमलों का आश्रय लेने से ही क्या सब कुछ प्राप्त हो जायेगा?

उत्तर—श्रीगुरुदेव का चरणाश्रय करने पर कृष्णनाम, कृष्णमन्त्र इत्यादि सभी कुछ प्राप्त हो जाता है। किन्तु श्रीगुरुदेव की प्रचुरमात्रा में सेवा करने की बुद्धि न होने पर इन सब अप्राकृत (भगवान एवं भक्ति) वस्तुओं की अनुभूति नहीं होती। विश्रम्भपूर्वक अर्थात् दृढ़विश्वास या प्रीतिपूर्वक श्रीगुरुदेव की सेवा न करने पर तथा श्रीगुरुदेव के निर्देशानुसार भक्तिमार्ग में अग्रसर न होने पर हमारा वास्तविक कल्याण नहीं हो सकता अर्थात् हमें भक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। क्योंकि आध्यक्षिक लोग तर्कपन्थी होते हैं। तर्कपथ का अवलम्बन करने पर श्रौतपथ या भक्तिमार्ग की बातें समझ में नहीं आ सकतीं। क्योंकि तर्क बुद्धि की उपज है, परन्तु भक्ति बुद्धि से अतीत होती है। किसी भक्तगुरु के चरणों के आश्रय में रहकर ही उनके आनुगत्य में भक्तिपथ में विचरण न करने पर बुद्धि का उपयुक्त व्यवहार नहीं हो सकता। इसीलिए शास्त्रों में कहा गया है—**आदौ गुरुपदाश्रय तस्माद् कृष्ण दीक्षादि शिक्षणम्, विश्रम्भेण गुरोः सेवा, साधु वर्त्मानुवर्तनम्।** अर्थात् सर्वप्रथम साधक को गुरुपदाश्रय करना चाहिए। तत्पश्चात् उनसे कृष्णदीक्षा एवं शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए, तत्पश्चात् प्रीतिपूर्वक गुरुसेवा एवं महाजनों के द्वारा प्रदर्शित मार्ग का अवलम्बन करना चाहिए।

प्रश्न 75—निष्किञ्चन कौन है?

उत्तर—जो इस जगत की कुछ भी वस्तु नहीं चाहते, वे ही निष्किञ्चन हैं। वे विचार करते हैं कि जगत में ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो मुझे सदैव सुख प्रदान कर सके। इस पृथ्वी में नित्य सुखद कोई वस्तु नहीं है। यह पृथ्वी बद्ध जीवों के लिए कारागार सदृश है। हमलोग भगवान को भूलकर ही इस संसाररूपी कारागार में कैद हो गये हैं। इसीलिए इतना कष्ट पा रहे हैं।

प्रह्लाद महाराज भारत-सम्राट होते हुए भी निष्किञ्चन भक्त थे और सुदामा विप्र अत्यन्त निर्धन होने पर भी निष्किञ्चन थे। क्योंकि ये दोनों ही निष्काम भक्त थे। निष्किञ्चन भक्त जानते हैं कि यह सम्पूर्ण जगत हरि, गुरु एवं वैष्णवों की सेवा का उपकरण है। इसीलिए वे इस जगत की किसी भी वस्तु के प्रति भोगबुद्धि नहीं करते और उनका त्याग भी नहीं करते हैं। बल्कि समस्त वस्तुओं को भगवान की सेवा में ही लगाते हैं। यदि कोई हरिभजन न करे, तो उसे इस जगत से एक तृण भी ग्रहण करने का अधिकार नहीं है। भक्तलोग पग-पगपर इसकी उपलब्धि करते हें।

भक्तलोग जानते हैं कि कृष्ण की शुद्धभक्ति करने पर समस्त प्रकार की सुविधाएँ एवं समस्त प्रकार का मंगल प्राप्त हो जाता है। निरपराध होकर निरन्तर कृष्णनाम की सेवा करने पर भक्त, भक्ति और भगवान के स्वरूप को जाना जा सकता है। साधु, गुरु के मुख से कृष्णकथा श्रवण करने का सौभाग्य होने पर ही उनका कीर्तन करना चाहिए। तभी कृष्णानुशीलन सम्भव है। कृष्ण का अनुशीलन (कृष्ण की सेवा की चेष्टा) न रहने पर कृष्ण के अतिरिक्त सांसारिक वस्तुओं का अनुशीलन ही होगा।

प्रश्न 76—अनुकूल कृष्णानुशीलन किसे कहते हैं?

उत्तर—हमें एकमात्र कृष्ण का ही अनुशीलन करना चाहिए। अर्थात् हमारी समस्त चेष्टाएँ कृष्ण की सेवा के लिए होनी चाहिए। श्रीवार्षभानवीदेवी (श्रीमती राधिकाजी) ही कृष्ण की अनुकूला हैं। इस प्रकार श्रीवार्षभानवीदेवी का नाम ही अनुकूला है। श्रीमती राधिकाजी के निजजन गुरु पादपद्म हैं। गौड़ीय वैष्णववृन्द अनुकूला के कृष्ण अर्थात् राधाजी के कृष्ण की उपासना करते हैं। वे कृष्ण की अपेक्षा श्रीवार्षभानवी के ही पक्षपाती होते हैं। अनुकूला के आनुगत्य में ही कृष्ण का अनुकूल रूप में अनुशीलन हो सकता है। अनुशीलन कृष्ण से सम्बन्धित होने पर ही समस्त प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त हो जाती हैं। अर्थात् यदि मनुष्य सब प्रकार से भगवान को ही प्रसन्न करने की चेष्टा करे, तो उसकी समस्त विपत्तियाँ दूर हो जायेंगी। किन्तु हाय! हमलोग कृष्ण को अपने घर का स्वामी न मानकर स्वयं को घर का मालिक मानकर गृहव्रती हो रहे हैं।

प्रश्न 77—क्या हमें कटु सत्य बात बोलनी चाहिए?

उत्तर—अवश्य ही। हमें किसी की भी वञ्चना न कर सबके समक्ष निर्भीक रूप से सत्य बात बोलनी चाहिए। जिससे जीवों का कल्याण होता हो, ऐसी सत्य बात अप्रिय होने पर भी अवश्य ही बोलनी चाहिए। इससे किसी को उद्वेग नहीं मिलेगा। वास्तविक सत्य का ही अनुसन्धान करना चाहिए। पृथ्वी के समस्त लोगों का कल्याण कैसे हो, इसपर विचार करने की आवश्यकता है। दृढ़प्रतिज्ञ को अपने एवं दूसरे का कल्याण करना चाहिए। केवल वर्तमान युग मनुष्यों के लिए ही नहीं, बल्कि सभी युगों के मनुष्यों के अनन्तकाल के कल्याण के लिए चेष्टा करनी चाहिए। जहाँ पहुँचकर वापस नहीं आना पड़ता, ऐसे सुखमय वैकुण्ठ की बातें ही सभी लोगों को बतानी चाहिए। उस अप्राकृत जगत की बातें दूसरों को बताने के लिए पहले हमें स्वयं श्रीगुरुदेव के चरणकमलों का अवश्य ही आश्रय लेना चाहिए।

हमें सर्वदा ही दिव्यज्ञान प्रदाता श्रीगुरुदेव के चरणकमलों की सेवा करनी चाहिए। यदि हम घर में रहते हैं, तो घर के सभी लोगों के साथ मिलकर उनकी सेवा करें। हमें अच्छे-अच्छे घरों में भगवान एवं भक्तों को

ही रखना चाहिए, स्वयं कुटी में रहना चाहिए। यदि हम स्वयं न खाकर भगवान को खिलाएँ, तभी हम उनकी करुणा को प्राप्त कर सकते हैं। हमें सब समय स्मरण रखना चाहिए कि संसार की प्रत्येक वस्तु भगवान की ही है। यदि जगत की सभी वस्तुओं को भगवान की सेवा में लगा दिया जाय तभी जीवन सार्थक होगा। इन सब बातों का पहले स्वयं आचरण कर प्रचार करना चाहिए। यदि निर्भीक रूप से शास्त्र की सत्य बातों को न बोला जाय तो श्रीगुरु एवं गौरांग प्रसन्न नहीं होंगे। जिसकी भक्ति-शक्ति एवं दृढ़ता जितनी अधिक होगी, वह उतने ही अधिक परिमाण में निर्भीकतापूर्वक प्रचार कर पायेगा। लोगों के सामने निरपेक्ष सत्य बातों को कहने से लोग नाराज हो जायेंगे, यदि इस भय से में सत्य बात न कहूँ, तो समझना चाहिए कि मैंने श्रौतपथ त्यागकर अश्रौतपथ को ग्रहण कर लिया है। जिससे मैं नास्तिक एवं वञ्चक हो गया हूँ।

प्रश्न 78—गृहव्रत कौन हैं?

उत्तर—जिनके हृदय में अपने प्रति स्त्री और पुरुष अभिमान है, वे ही गृहव्रती हैं। गृहव्रती लोग कनक (अर्थ), कामिनी (स्त्री), एवं प्रतिष्ठा के लोलुप होते हैं। इस कनक, कामिनी एवं प्रतिष्ठा का भोग करने की प्रवृत्ति वाले व्यक्ति ही गृहव्रत कहलाते हैं। जो गृहव्रती हैं, वे सोचते हैं हमारे पास सेवक होना चाहिए। हम घर के मालिक होकर अच्छी प्रकार से इन्द्रिय तर्पण करें। यही हमारा व्रत एवं उद्देश्य है।

हम देहात्मवादी या गृहव्रत होकर मालिक बन रहे हैं। हम सारे जगत को अपने भोग की वस्तु के रूप में दर्शन कर रहे हैं, इसीलिए हम समस्त प्रकार की विपत्तियों में पड़ रहे हैं। सारा जगत भगवान की सेवा की वस्तु है, जबतक हमारी ऐसी सुबुद्धि नहीं हो जाती, तबतक हमारी गृहव्रत-बुद्धि दूर नहीं होगी तथा हम अपने कल्याण का अनुसन्धान नहीं कर सकेंगे। जो भोग अथवा त्याग करने का विचार करते हैं, उनका सर्वनाश ही होता है। वे कभी भी भगवान को नहीं जान सकते। अनित्य जगत के ऊपर निर्भर रहने पर दुख एवं मृत्यु ही प्राप्त होगी। कृष्णबहिर्मुख संसार करने के फल से ही हमें मृत्यु एवं नाना प्रकार के रोग-व्याधिरूप त्रिताप में जलना पड़ रहा है। सांसारिक समस्त प्रकार की चिन्ता-भावनाएँ मृत्यु के लिए होती हैं। ये मुझे दिन-प्रतिदिन नरक की ओर ले जा रही हैं, क्रमशः मुझे घनघोर दुःख में डाल रही हैं, गृहव्रत (गृह में आसक्त) व्यक्ति इसकी चिन्ता नहीं करता।

प्रश्न 79—किससे भागवत सुननी चाहिए?

उत्तर—श्रीमद्भागवत महाभागवत श्रीगुरुदेव एवं गुरुनिष्ठ शुद्धभक्तों के श्रीमुख से ही सुननी चाहिए। जो व्यक्ति स्वयं भागवत नहीं बना है, उससे श्रीमद्भागवत का श्रवण करने से मंगल नहीं हो सकता। जिसका चरित्र

खराब है, जिसके चित्त में काम की प्रबल तरंगें उठ रही हैं, जो प्रतिष्ठा और अर्थ का ही इच्छुक है, वह व्यक्ति कभी भी श्रीमद्‌भागवत का पाठ नहीं कर सकता। उसके मुख से श्रीमद्भागवत कीर्त्तित नहीं हो सकती। ऐसा व्यक्ति श्रीमद्‌भागवत पाठ के छल से अपनी इन्द्रियों का ही तर्पण करता है। इस प्रकार वह स्वयं तो आत्मकल्याण से वञ्चित होता ही है, दूसरों को भी वञ्चित कर देता है। जो सर्वदा हरिभजन करते हैं, ऐसे श्रीगुरुदेव का आश्रय ग्रहण कर उनके श्रीमुख से अथवा उनके निर्देशानुसार अन्य शुद्ध वैष्णवों के श्रीमुख से श्रीमद्भागवत श्रवण करना चाहिए। तभी हमारा मंगल हो सकता है एवं हमें भक्ति प्राप्त हो सकती है।

श्रीमद्भागवत ही जिनका जीवन एवं सेव्य स्वरूप है, वे ही वास्तविक रूप में भागवत पाठ करते हैं, ठाकुरजी की सेवा करते हैं, हरिनाम करते हैं, ऐसे ही भक्तों का संग करना चाहिए। उनके लिए अपना सब कुछ अर्पण कर देना चाहिए। क्योंकि वे हमारी तरह भोगों में प्रमत्त नहीं रहते। वे भगवान की सेवा के छल से अपनी एवं दूसरों की वञ्चना नहीं करते अथवा भगवान की सेवा की वस्तुओं को मायिक जानकर उनका परित्यागकर फल्गु वैरागी की भाँति जड़ प्रतिष्ठा का संग्रह नहीं करते।

मैं जिसका संग करूँगा या जिससे कथा सुनूँगा, वह श्रौतपन्थी होना चाहिए। साधु गुरु कभी भी प्रेय पथ स्वीकार नहीं करते। वे श्रेयपन्थी या श्रौतपन्थी होते हैं। श्रौतपन्थी साधु अपने गुरुदेव के श्रीमुख से सत्यपथ या भक्तिपथ में चलने की जो शिक्षा प्राप्त करते हैं, उसी को वे दूसरों को बतलाते है। वे दुसरों को अपने मनःकल्पित बात कभी भी नहीं कहते। अनेक समय हमलोग गुरु का आश्रय ग्रहण करते हैं अथवा साधु संग करते हैं—अपने आत्मकल्याण के लिए नहीं, बल्कि प्रेय प्राप्ति अथवा अपस्वार्थ (अपनी कामना वासना को) को पूर्ण करने के लिए। आजकल गुरु ग्रहण करना तो एक श्रेणी के लोगों के लिए नाई या धोबी रखने की भाँति एक लौकिक या कुल परम्परा धन पड़ी है, और एक श्रेणी के लोगों के लिए गुरु करना एक फैशन मात्र हो गया है। साधुसंग या हरिकथा सुनना भी उसी प्रकार का एक कार्य हो गया है। अतः हमारा मंगल कैसे होगा? उपयुक्त गुरु के मुख से कथा न सुनने पर क्या किसी का कल्याण हो सकता हैं? इसीलिए जो अपना मंगल चाहते हें, उन्हें साधुसंग के विषय में सावधान रहना चाहिए। साधु नामधारी लोगों के मुख से हरिकथा सुनने पर विपत्ति में ही पड़ना पड़ता है।

सौभाग्यवश भगवान की कृपा से यदि कोई शुद्ध साधु का संग प्राप्त करता है, तो उससे सत्यवस्तु भगवान एवं भक्ति-विषय में जानने के लिए उसके प्रति प्रगाढ़ निष्ठा होनी चाहिए। हमारे जीवन में जितना समय बच गया है, उसमें से एक मुहूर्त्त का समय भी विषय-कार्यों में न गँवाकर भगवान के भजन में ही लगाना चाहिए, हमें सत्संग प्राप्ति के लिए व्याकुल रहना चाहिए। क्योंकि अन्यान्य सभी कर्तव्य सभी जन्मों में पूरे किये जा

सकते हैं, परन्तु जीव का एकमात्र कर्त्तव्य सद्गुरु के चरणाश्रय में कृष्णभजन करना मनुष्य जन्म छोड़कर और किसी जन्म में सम्भव नहीं है।

प्रश्न 80—भगवद्दर्शन का मार्ग क्या है?

उत्तर—भगवान श्रीहरि निर्गुण वस्तु हैं, अर्थात् वे माया के रज, सत एवं तम इन तीनों गुणों से अतीत हैं। वे मायातीत हैं। ऐसे निर्गुणवस्तु भगवान का दर्शन करने का माध्यम कान के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं है। साधुओं के श्रीमुख से प्रवाहित होने वाली वैकुण्ठ कथाओं की अलौकिक शक्ति है। वह वैकुण्ठ शब्द यदि हमारे कानों में चला जाय, तो अवश्य ही हमारी चेतनता प्रकाशित होगी, अर्थात् कृष्णोन्मुखता जागेगी। जो शब्द वैकुण्ठ से इस जगत में अवतीर्ण होता है, वही शब्द हमें वैकुण्ठ ले जाता है। परन्तु इस जगत के शब्द या सांसारिक बातें हमें नरकलोक का यात्री बना देती हें। श्रीचैतन्य महाप्रभु वैकुण्ठ की कथाओं को कहने के लिए ही इस जगत में आये थे, परन्तु उन परम कृपामय प्रभु की बात दुर्भाग्यवशतः हमारे कानों में नहीं जा रही है। सौभाग्यवशतः यदि हमारी भगवान की सेवा करने की प्रवृत्ति उदित हो जाय तभी हम अपने कानों से वैकुण्ठ की कथाएँ अर्थात् भगवान की कथाएँ सुन सकते हैं एवं उन्हें धारण भी कर सकते हैं। जिसकी जैसी अवस्था है, उसे उसी अवस्था से ही उन्नत होना होगा। जीवन्त साधुओं से ही चेतनमयी वाणी (भगवान की कथाएँ) सुननी होगी। जिस क्षण हम शुद्ध साधुओं की कथा नहीं सुनेंगे, निष्कपट होकर उनकी सेवा नहीं करेंगे, उसी क्षण माया हमें ग्रास कर लेगी। इसीलिए हमारा कर्त्तव्य है कि जहाँ हरिकथा हो रही हो, वास्तविक रूप में चेतन से चेतनमयी हरिकथा प्रकाशित हो रही हो, वहीं पर अपने मन को नियुक्त करें। Living source से ही सेवोन्मुख कानों के द्वारा हरिकथा श्रवण करने पर चेतन की वृत्ति (आत्मा की वृत्ति) प्रकाशित होगी, तब अपने निर्मल चित्त में हम भगवान की अनुभूति या भगवान का दर्शन कर सकते हैं। श्रौतपथ या श्रवण मार्ग से ही भगवान का दर्शन होता है, इसके अतिरिक्त भगवद्दर्शन का अन्य कोई मार्ग नहीं है।

प्रश्न 81—कृष्णनाम कीर्तन का क्या फल है?

उत्तर—श्रीकृष्णनाम का कीर्तन साक्षात् कृष्ण का अनुशीलन या कृष्ण की साक्षात् सेवा है। कीर्तन करते-करते भोगों की इच्छा एवं मुक्ति की कामनारूप अनर्थ दूर हो जाते हैं। श्रीनाम की कृपा से सभी प्रकार के अनर्थ ही नष्ट हो जाते हैं, क्योंकि कृष्णनाम साक्षात् कृष्ण ही हैं। शक्तिमान कृष्णनाम असीम शक्तिशाली है। उनकी कृपा से कुछ भी असम्भव नहीं रह जाता है। नाम कीर्तन के फल से अनर्थ निवृत्ति एवं परमार्थ की प्राप्ति सब कुछ अनायास ही हो जाता है। नाम के फल से कृष्ण के श्रीचरणों में प्रेम उत्पन्न हो जाता है। कृष्णनाम ही जीवों का एकमात्र आश्रय है। कलिकाल

में कृष्णनाम के अतिरिक्त जीवों का अन्य साधन-भजन नहीं है। श्रीनाम भजन के अतिरिक्त जीव के कल्याण का एवं अमंगल को दूर करने का अन्य कोई उपाय नहीं है।

प्रश्न 82—क्या कृष्ण-कार्य ही भक्ति है?

उत्तर—अवश्य ही। कृष्ण के कार्यों को छोड़कर भक्तों के लिए अन्य कोई कार्य नहीं है। शुद्धभक्त भगवान की सेवाके उद्देश्य से जो कुछ करते हैं, वे सब कृष्ण-कार्य ही भक्ति है। परन्तु जीव कर्त्ता अभिमान से जो कुछ भी करता है, उसका फल उसे स्वयं भोग करना पड़ता है। इसीलिए कर्म ओर भक्ति मै बहुत अन्तर है।

प्रश्न 83—जीवतत्त्व क्या है?

उत्तर—जीव शब्द का अर्थ जीवन से है। भगवान की तीन प्रकार की शक्तियाँ हैं—अन्तरंगा, बहिरंगा और तटस्था। जीव तटस्था-शक्ति-परिणत वस्तु है। जीव वस्तु है, काल्पनिक आकाश-कुसुम नहीं। जीव अज वस्तु है, जीव सृष्टवस्तु नहीं, जीव नित्यकाल वर्तमान है। जीव चेतन होने पर भी अणु चेतन हैं। किन्तु भगवान विभु चेतन हैं। इसीलिए जीव के साथ ईश्वर का नित्यभेद है। श्रीमन्महाप्रभु ने कहा है कि ईश्वर मायाधीश हैं और जीव मायावश है, यही ईश्वर और जीव में भेद है। ईश्वर ब्रह्मवस्तु हैं, बृहद्-वस्तु हैं। किन्तु जीव क्षुद्रवस्तु, अणुचित् वस्तु है। ईश्वर मायाधीश, किन्तु जीव मायावश है। जीव स्वरूपतः कृष्णका नित्यदास है और कृष्ण जीव के नित्य प्रभु हैं। जीव कृष्ण का सेवक है। कृष्ण जीव के सेव्य, नियामक और रक्षक हैं। कृष्ण सेवा ही जीव का नित्य कृत्य है।

श्रीमन्महाप्रभु ने कहा है—

जीवेर स्वरूप हय कृष्णेर नित्यदास।
कृष्णेर तटस्था-शक्ति भेदाभेद प्रकाश॥
कृष्ण भुलि सेइ जीव अनादि बहिर्मुख।
अतएव माया ता' रे देय संसार-दुःख॥
साधु-शास्त्र-कृपाय यदि कृष्णोन्मुख हय।
सेई जीव निस्तरे, माया ताहारे छाड़य॥
ता 'ते कृष्ण भजे, करे गुरुर सेवन।
मायाजाल छूटे, पाय कृष्णेर चरण॥

{अर्थात् जीव स्वरूपतः कृष्ण का नित्यदास है, कृष्ण की तटस्था शक्ति का भेदाभेद प्रकाश है। कृष्ण को भूलकर वह जीव अनादि काल से कृष्ण-बहिर्मुख है, इसीलिए माया उसे संसार-दुःख देती है। साधु और शास्त्र की कृपा से यदि जीव कृष्णोन्मुख होता है, तो उस जीव का उद्धार होता है, माया उसे छोड़ देती है। इसलिए जीव यदि गुरु की सेवा करते हुए कृष्ण भजन करता है, तो मायाजाल से छूटकर वह कृष्ण के चरणों को

प्राप्त कर लेता है। }

जीव आत्मा है। जीव मन या देह नहीं, जीव देही है। देही जीव जब देह का परित्याग करता है, तब देह पड़ा रहता है। जीव चेतन है, मन चेतनाभास है, देह अचेतन या जड़ है। मन सूक्ष्म शरीर या Subtle body है। मन Dim reflection of animation (चेतना का अस्पष्ट प्रतिफलन) है, चेतना का आभास (meddling with the world) है, मन आत्मा के साथ एक नहीं है। मन सर्वदा बाहर जगत में विचरण करता रहता है। मन बहिर्जगत की स्थूल-वस्तु ग्रहण कर सकता है, किन्तु नित्यवस्तु ईश्वर का सन्धान नहीं रख सकता या दे नहीं सकता। मैं जीव हुँ, मैं मन या शरीर नहीं हूं। शरीर और मैं (देह-देही) एक नहीं है। गृह और गृही एक नहीं हो सकते हैं। आत्मा, देही या जीव सूक्ष्म शरीर मन और स्थूल शरीर का मालिक है; एक Property है, ओर एक (जीव) Proprietor हैं। अज्ञानता के कारण देह में जीव की आत्मबुद्धि होती है, देह को 'मैं' समझने की भ्रान्ति होती है।

श्रीमन्महाप्रभु ने कहा है—

जीवे स्वरूप कृष्णदास-अभिमान।
देहे आत्मज्ञाने आच्छादित सेइ ज्ञान॥
देहे आत्मबुद्धि हय विवर्तेर स्थान।
देहे आत्मबुद्धि—एइ मिथ्या हय॥

(चैतन्य-चरितामृत)

जीव नित्य-वस्तु है, स्थूल और सुक्ष्म शरीर की भाँति अनित्य नहीं। कृष्ण-सेवक जीव कृष्ण को भूल जाने के कारण ही उसको इतना कष्ट होता है, उसकी इतनी दुर्गति होती है। कृष्णोन्मुखता ही जीव का स्वास्थ्य है। अपने को कृष्णदास के रूप में जानना ही जीव की स्वस्थ-अवस्था है। वर्तमान जीव दास-अभिमान को भूलकर भोगी या त्यागी हो गया है। यह रोग है, इसलिए जीव रोगी है। उसके मुख को कृष्ण की ओर मोड़ देने का नाम ही चिकित्सा है। कृष्ण-बहिर्मुख जीव को कृष्णोन्मुख करना ही जीव के प्रति दया है और यही यथार्थ एवं सर्वश्रेष्ठ उपकार है। कृष्ण का जीव कृष्ण को भूलकर कष्ट पा रहा है। अभी साधुसंग के प्रभाव से सेवोन्मुख होकर कृष्ण के साथ completely dovetailed (सम्पूर्णरूप से संयुक्त) हो पाने पर ही समस्त प्रकार की असुविधा दूर हो जायेगी तथा जीव सदा के लिए सुखी हो सकेगा।

प्रश्न 84—आपकी बात सुनकर बहुत उपकृत हो रहा हूँ। कृपया और कुछ हरिकथा बोलिए।

उत्तर—श्रीगौरसुन्दर ने जिस सेवा की बात कहीं है, वही सेवा सर्वोत्तम है। जिस औषधि द्वारा वर्तमान की व्याधि आरोग्य होकर सेवावृत्ति का उदय है. गौरविहित कीर्तन में वही औषधि है। इस औषधि को ग्रहण

करना सभी का कर्त्तव्य है। तभी हम शान्ति प्राप्त कर सकते हैं। कृष्णनाम–संकीर्तन ही उसकी अमोघ औषधि है। हरिकीर्तन सदैव आवश्यक है। श्रीचैतन्यविहित (उपदिष्ट) हरिकीर्तन ही चिरशान्ति की प्राप्ति का एकमात्र पथ और पाथेय है। हरिकीर्तन में सर्वशक्ति निहित है एवं सर्वप्रयोजन–शिरोमणि अनुस्यूत (संयुक्त) है। श्रीचैतन्य–प्रदर्शित पथपर श्रीमद्भागवत का अनुशीलन ही श्रीचैतन्याश्रित व्यक्तियों का कृत्य है।

कृष्णसेवा को भूलकर यहाँ हम प्रभु हो गये हैं। प्रभु होने की इच्छा थी, इस जगत ने उसका अवसर दिया है। यह जगत उसके लिए सज्जित है। किन्तु प्रभु होना स्वरूप का धर्म नहीं, यह विरूप का धर्म है। इसमें शान्ति नहीं होती। सेवामय अवस्था ही शान्ति है। कृष्णसेवक का अभिमान ही शान्तिप्राप्ति का उपाय है। भोग और त्याग आत्मधर्म नहीं। भगवत् सेवा ही आत्मधर्म है।

मैं कौन हूँ—इस बात को भूल जाने के कारण ही हमारा सर्वनाश हुआ हैं। मैं भगवत् सेवक हूँ—यही दिव्यज्ञान है। कृष्णप्रेष्ठ श्रीगुरुदेव हमें यह दिव्यज्ञान या दीक्षा प्रदान कर इसे बता देते है। गुरुसेवा के फल से ही आत्मधर्म भगवद्–भक्ति प्रकाशित होती है। कृष्ण के भक्तों के निकट जाकर यदि निष्कपट होकर उनकी बात सुन सकता हूँ, तब इस जन्म या अगले जन्म में मंगल अवश्य ही होगा। कृष्णसेवा में नियुक्त होने पर ही हमारा जीवन सार्थक होता है। आपलोग पण्डित हैं, आप लोगों को मैं असाधु नहीं मान रहा हूँ, आप लोग साधु है, आप सभी के चरणों में नतमस्तक होकर कह रहा हूँ—आप लोग कृपापूर्वक यह भिक्षा दीजिए। आप लोग बहिर्जगत के बड़े लोग हैं, यह भूल जाइए। सबको छोड़कर आप लोगों का आकर्षण श्रीचैतन्यचन्द्र के चरणों में हो, केवल इतना ही हो। केवल इतना होने से ही आप लोग साथ ही साथ समझ सकेंगे कि—चैतन्यदेव की बातों में किसी प्रकार की असुविधा नहीं है। यह बात जिनके कानों में पहुँचेगी, वे कीर्तन आरम्भ कर देंगे। मेरे समस्त भाइयो! आप लोग इस प्रकार अमंगल के पथ में क्यों जा रहे हैं? दूसरी बात का क्या प्रयोजन है? हर समय कृष्णकथा श्रवण करना कर्तव्य है। सब प्रकार से कृष्ण की सेवा करना विशेष आवश्यक है।

वर्तमान आत्मा मन को सब दायित्व देकर सो रही है। नींद थोड़ी-सी टूटनी चाहिए। क्योंकि मन मेरा परम शत्रु एवं भीषण विश्वास घातक है। वह मुझे दुःख के सागर में फेंक देगा। इसलिए मन को अधीन रखना आवश्यक है। हम किसी भी अवस्था में क्यों न रहें, भगवान को भूलना ही समस्त अमंगल का कारण है। कृष्णपादपद्म का आश्रय करने पर ही सभी सुविधा होती है। यदि हरि को छोड़ दिया जाय, तब घोर अन्धकार में प्रवेश कर आत्मा को कष्ट देना होता है। महाभाग्य के फल से मनुष्यजन्म मिला है —बेवकूफी करने के लिए नहीं, शैतानी करने के लिए नहीं। मनुष्य जन्म की Normal condition (स्वाभाविक अवस्था)—भगवान की सेवा है।

'कृष्ण तोमार हञ' यदि बले एकबार।
मायाबन्ध हैते कृष्ण तारे करे पार ॥

"हे कृष्ण! मैं आपका हूँ",—ऐसा यदि कोई एक बार कहता है, तो कृष्ण उसे माया-बन्धन से मुक्त कर देते हैं।

प्रश्न 85—कृष्णदास्य किस उपाय से प्राप्त होता है?

उत्तर—हम लोग भगवान के शरणागत हैं तथा श्रीगुरुपादपद्म के आश्रित हैं। भगवान को इन आँखों से नहीं देख सकते। हम बद्धजीव हैं। श्रीचैतन्यदेव के दासों का जूता वहन कर सकने से ही हम में भगवद् दास-अभिमान जागेगा और भक्तकृपा से हमारी भक्ति की आँख प्रस्फुटित होगी, तभी हम गुरुकृपा से कृष्णदास्य और कृष्णदर्शन प्राप्त कर सकेंगे।

प्रश्न 86—यह सुसिद्धान्त हमें विशेषरूप से किसने बताया कि भक्ति ही प्रेयः है?

उत्तर—भगवान श्रीगौरसुन्दर ने जगत का कल्याण करने के लिए जिन्हें महान्तगुरु रूप में जगत में भेजा था, उनमें से ही जगद्गुरु श्रील भक्तिविनोद ठाकुर एक हैं। जिस महापुरुष ने वर्तमान जगत को शुद्धभक्ति की बात एवं गुरुधारा (गुरु परम्परा) को जानने का अत्यधिक अवसर प्रदान किया, वे गौर प्रेष्ठ (गौरसुन्दर के प्रिय) श्रील भक्तिविनोद ठाकुर ही हमारे आश्रय स्थल हैं। उनकी भक्त के प्रति ही प्रेय-बुद्धि थी। उनसे पूर्व आचार्यों ने कहा कि केवल भक्ति ही श्रेयः है। परन्तु रूपानुगवर श्रीभक्तिविनोद ठाकुर ने जगत को विशेष रूप से बताया कि भक्ति ही प्रेयः है। जिनके प्रेय विचार में भक्ति नहीं है, वे ही श्रेयोहीन हरिविमुख अवैष्णव हैं। मानव जाति की अन्याभिलाष, कर्म एव ज्ञान में ही प्रेयः बुद्धि होती है या अपनी इन्द्रिय-तृप्ति में ही वे आनन्दित रहते है। किन्तु भगवद् भक्ति के प्रति जिसकी प्रेयः बुद्धि होती है या कृष्ण के इन्द्रियतर्पण में ही जो आनन्दित रहते हैं, वे श्रीभक्तिविनोद ठाकुर श्रीगौरसुन्दर को प्रिय निजजन तथा अभिन्न-विग्रह हैं।

श्रीभक्तिविनोद ठाकुर ने अहैतुकी भक्ति को ही अपना प्रेय जानकर एकमात्र भक्तिपथ रूप श्रेय पथपर विचरण करने के लिए जगत् के लोगों को उपदेश प्रदान किया है। तुम्हारा प्रेयः पथ एक प्रकार का, हमारा प्रेयःपथ अन्य एक प्रकार का—ऐसी अभक्तिविनोद चेष्टा से श्रीलभक्तिविनोद ठाकुर ने जीवों की रक्षा की है। उन्होंने आंशिक वस्तु का विनोद अर्थात् अभक्ति के विनोद की बात जगत में प्रचार नहीं की। तुम लोगों का विनोदन कार्य भक्ति रहे, तो रहे, परन्तु मेरे विनोदन कार्य की वस्तु अभक्ति है—जो ऐसे विचारों की ओर दौड़ रहे हैं, ऐसे समस्त चित्-जड़ समन्वयवादियों का विचार भी भक्तिविनोद का विचार नहीं है। अभक्ति एवं भक्ति कदापि एक समान नहीं हो सकती। कृष्ण का विनोद एवं माया का

विनोद एक वस्तु नहीं है। भक्ति के पूर्ण विनोदन के अतिरिक्त भक्तिविनोद की किसी अन्य वृत्ति में प्रीति नहीं है।

अनेक प्रकार के जगत् जंजाल के द्वारा शुद्धभक्ति का स्रोत बन्द हो गया था। भक्ति में ही जिनकी प्रेयबुद्धि है, ऐसे श्रीभक्तिविनोद ठाकुर ने शुद्धभक्ति की धारा को पुनः जगत में प्रवाहित किया है। एकमात्र भक्तिविनोद प्रभु की कथाओं में ही जिसका आदर है, वे ही मेरे गुरुदेव है। उनके अतिरिक्त ओर जो कोई भी उनकी कथाओं का आदर करते हैं, वे मेरे गुरुवर्ग हैं। जो एकमात्र भक्ति को प्रेय मानते हैं, हम एकमात्र ऐसे श्रीगुरुदेव के चरणकमलों के आश्रित हैं। जो लोग ऐसे गौरसुन्दर के प्रिय भक्तिविनोद ठाकुर को जगत का एक व्यक्ति मानते हैं, उनके साथ हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। भक्तिविनोद के ऐसे विरोधी दुर्भागे व्यक्ति का मुखदर्शन हमें कभी भी प्राप्त न हो।

प्रश्न 87—क्या मठ में संकीर्तनाग्नि सर्वदा प्रज्वलित रखनी होगी?

उत्तर—अवश्य ही। प्रत्येक मठ में संकीर्तनाग्नि निरन्तर प्रज्वलित रखनी चाहिए। इसका विशेष ध्यान रखना चाहिए कि कभी भी वह अग्नि न बुझे। मठ में काम या इन्द्रिय तर्पण की गन्ध कभी भी नहीं रहनी चाहिए, श्रीराधागोविन्द के परिपूर्णरूप में इन्द्रिय तर्पण की ही प्रधानता रहनी चाहिए। कीर्तन रूप अग्नि की चेतोदर्पण मार्जनमयी शिखा मठ में प्रज्वलित न रहने पर परस्पर सभी का मनोमालिन्य छिद्रान्वेषण, कपटता, ईर्ष्या, विद्वेष आदि अनर्थ आकर हमारे चित्त को कलुषित कर देंगे। उसके फल से भव–महादावाग्नि क्रमशः बढ़ती रहेगी।

मठ में या हृदय में संकीर्तनाग्नि प्रज्वलित न रहने पर संसार दशा जड से नहीं उखड़ेगी तथा संकीर्तन का चरम फल प्रेम प्राप्त नहीं होगा। यह संकीर्तनाग्नि अन्याभिलाष, कर्म, ज्ञान, भोग, व्रत एवं तप आदि सभी को भस्मकर स्वयं सर्वोपरि विराजमान रहती है। दुर्बुद्धिपरायण लोग ही अन्यान्य साधन एवं साध्य को अपनाते हैं, परन्तु बुद्धिमान लोग संकीर्तन यज्ञ के द्वारा ही महाप्रभु की आराधना करते हैं। श्रीकृष्णसंकीर्तन होने से ही सत्ययुग का महाध्यान, त्रेतायुग का महायज्ञ एवं द्वापर का का महार्चन स्वतः हो जायेगा। संकीर्तन के बिना श्रीराधागोविन्द मिलित तनु श्रीगौरसुन्दर की सेवा नहीं हो सकती। केवल अर्चन के द्वारा ही श्रीराधागोविन्द की सेवा नहीं होती, इसीलिए महा–अर्चन (संकीर्तन) की विशेष आवश्यकता है। इसीलिए श्रीमन्महाप्रभुजी ने शिक्षाष्टक के प्रारम्भ में ही "परं विजयते श्रीकृष्णसंकीर्तनम्" अर्थात् श्रीकृष्णसंकीर्तन की जय हो, ऐसा कहा है।

प्रश्न 88—घर में कैसे रहना चाहिए?

उत्तर—परमहंस महापुरुषों के संग से ही गृहरूप अन्धकूप में गिरने की योग्यता नष्ट हो जाती है, तथा ऐसे मुक्त महापुरुषों के संग के फल से

ही पारमार्थिक गृहस्थ होने की योग्यता भी प्राप्त हो जाती है। जो अभिन्न भक्त-भागवत एव ग्रन्थ भागवत का संग या चर्चा नहीं करते, उनका घर में कभी भी कल्याण नहीं हो सकता।

भगवान की सेवा करने के लिए ही घर में रहना अच्छा है, क्योंकि ऐसा करने पर भगवान का भजन अच्छी प्रकार से होता है। परन्तु गृहव्रत धर्म में भगवान का भजन सम्भव नहीं है। मैं कृष्ण की ही सेवा करूँगा, ऐसा संकल्प कर गृह में प्रवेश करना ही मंगलजनक है। फल्गु वैराग्य या मर्कट वैराग्य की अपेक्षा यह अनेक गुणा श्रेष्ठ है। फल्गु वैराग्य से लेशमात्र भी कल्याण सम्भव नहीं है। हरिभजन के अनुकूल संसार रहने पर ऐसा गृहस्थ आश्रम ही ग्रहणीय है, यदि प्रतिकूल संसार हो, तो ऐसा गृह-अन्धकूप परित्याग करने योग्य है। फल्गु वैराग्य की कसरत दिखाने के लिए यदि घर से विरक्ति होती है, तो ऐसा वैराग्य कल्याणजनक नहीं है। ऐसा अपक्व वैरागी दो-तीन दिन बाद ही पतित हो जाता है।

भगवान के भक्तों के संग के फल से ही गृहव्रत धर्म नष्ट हो जाता है। जो केवल बाह्यजगत की नीति का अवलम्बन कर गृह में प्रवेश करते हैं, वे गृहव्रत धर्म में ही निविष्ट हो जाते हैं।

भगवान के भक्तों के लिए जिस प्रकार संन्यास आश्रम ग्रहण करना आवश्यक है, उसी प्रकार भगवान के भक्तों के लिए गृहस्थ आश्रम ग्रहण करना भी आवश्यक है। भगवान के भक्तों का गृह प्रवेश ही वाञ्छनीय है, परन्तु अभक्तों को गृह-प्रवेश नहीं करना चाहिए। भगवान का भक्त यदि गृह में प्रवेश करता है, तो जानना चाहिए कि उसने मठ में ही प्रवेश किया है। क्योंकि पारमार्थिक गृह प्रवेश एवं मठ प्रवेश में कुछ भी भेद नहीं है। परन्तु गृहव्रत का गृह प्रवेश एवं कृष्णव्रत का गृह प्रवेश में आकाश-पाताल का भेद है।

निरन्तर अनुकूल कृष्णानुशीलन करने के लिए ही गृह प्रवेश करना चाहिए। पारमार्थिक गृहस्थ व्यक्ति को असत्संग एवं प्रजल्प आदि से सर्वदा दूर रहना चाहिए। गृहस्थ को उत्साह, निश्चय, धैर्य तथा श्रवण-कीर्तन आदि भक्ति के अंगों का आदर पूर्वक पालन करना चाहिए। गृहस्थ भक्तों के लिए हरि-गुरु-वैष्णवसेवा, श्रीनामकीर्तन, साधुसंग, हरिकथा श्रवण अति आवश्यक है। कृष्णसेवा के लिए सम्पूर्ण रूप में चेष्टा करने पर ही कल्याण होगा।

प्रश्न 89—प्रेमी भक्त कब हँसते हैं तथा कब रोते हैं?

उत्तर—प्रेमी भक्तों की क्रियाकलापों को समझना बहुत ही कठिन है। प्रेम ही भक्तों को उन्मत्त करता है। वे स्वयं कुछ नहीं करते हैं। कृष्ण के प्रति अनुराग होने पर भक्त कभी हँसते हैं, तो कभी रोते हैं। भक्त तब हँसते हैं, जब वे 'विश्वं पूर्ण सुखायते' अर्थात् जब वे सारे जगत को कृष्णमय देखते हैं, तब वे आनन्द से हँसते हैं। परन्तु जब जगत के लोगों

को अशान्त एवं दुःखी देखते हैं, तो उनके दुःख से दुःखी होकर वे रोने लगते हैं। सांसारिक लोग उनसे क्या कहेंगे या क्या कह रहे हैं—इस ओर वे ध्यान नहीं देते। जैसा कि श्रीमद्‌भागवत में कहा गया है—

एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।
हसत्यथो रोदिति रौति गायत्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः॥

(11/2/40)

(अर्थात् प्रेमलक्षणा भक्तियोग से भगवत्-सेवाव्रतधारी साधु पुरुषों के हृदय में एकान्तप्रिय श्रीभगवान् के नाम संकीर्तन से अनुराग एवं प्रेम का अंकुर उग आता है। उसका चित्त द्रवित हो जाता है। अब वह साधारण लोगों की स्थिति से ऊपर उठ जाता है। लोक लज्जा छोडकर कभी हँसने लगता है तो कभी फूट-फूटकर रोने लगता हे। कभी ऊँचे स्वर से भगवान को पुकारने लगता है, तो कभी मधुर स्वर से उनके गुणों का गान करने लगता है एवं कभी उनको रिझाने के लिए नृत्य भी करने लगता है।) श्रीमन्महाप्रभु ने भी कहा है—

किवा मन्त्र दिला गोसाञि, किवा तार बल।
जपिते जपिते मन्त्र करिल पागल॥
हासाय, नाचाय मोरे कराय क्रन्दन।
एत शुनि गुरु मोरे बलिला वचन॥
कृष्णनाम महामन्त्रेर एइ त' स्वभाव।
जेई जपे, ता'र कृष्णे उपजय भाव॥
कृष्णनामे फल प्रेमा—सर्वशास्त्रे कय।
भाग्ये सेइ प्रेमा तोमाय करिल उदय॥
प्रेमार स्वभावे करे चित्त-तनु-क्षोभ।
कृष्णेर चरण प्राप्त्ये उपजय लोभ॥
प्रेमार स्वभावे भक्त हासे, काँदे, गाय।
उन्मत्त हईया नाचे, इति-उति धाय ॥

(चैतन्य-चरितामृत)

अर्थात् श्रीमन्महाप्रभु कहने लगे, "मैं अपने गुरुदेव के पास गया और उनसे पूछा, 'हे गुरुदेव! आपने मुझे यह कैसा मंत्र दे दिया? कैसा इसका बल है? जपते-जपते इस मंत्र ने तो मुझे पागल ही कर दिया। कभी यह मुझे हँसाता है, कभी नचाता है, तो कभी रूलाता है।' यह सुनकर श्रीगुरुदेव मुझसे कहने लगे—कृष्णनाम महामंत्र का ऐसा ही स्वभाव है। जो इसका जप या कीर्तन करता है, उसके हृदय में कृष्ण के प्रति भाव उत्पन्न कर देता है। प्रेम के स्वभाव के वशीभूत होकर ही भक्त कभी हँसता है, कभी रोता है, कभी गाता है, तो कभी उन्मत्त होकर नाचते हुए इधर-उधर दौड़ता है।"

प्रश्न 90—कलियुग का धर्म क्या है?

उत्तर—हरिनाम संकीर्तन ही कलियुग का धर्म है।

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेनामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

अर्थात् बृहन्नारदीय पुराण में कहा गया है—कलियुग में केवल हरिनाम के द्वारा ही किसी का कल्याण हो सकता है। इसके अतिरिक्त गति नहीं है, नहीं है. नहीं है। शास्त्रों में अन्यत्र भी कहा गया है—

कलियुगधर्म—कृष्णनाम संकीर्तन।
निरपराधे नाम लैले पाय प्रेमधन॥

अर्थात् कलियुग का धर्म तो कृष्णनाम संकीर्तन ही है। यदि कोई समस्त प्रकार के अपराधों का त्यागकर हरिनाम का आश्रय लेता है, तो उसे अवश्य ही कृष्णप्रेमधन की प्राप्ति होती है।

भागवत में ऐसा ही कहा गया है—

कृते यद्ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात् ॥

(भागवत 12.3.52)

तात्पर्य यह है कि सत्ययुग में विष्णु के ध्यान के द्वारा, त्रेतायुग में यज्ञ के द्वारा एवं द्वापर युग में परिचर्या (अर्चन) के द्वारा जो फल प्राप्त होता था, कलियुग में वह फल हरिनाम कीर्तन के द्वारा ही प्राप्त हो जाता है। श्रीहरि का कीर्तन होने से समस्त कार्य अच्छी प्रकार से पूर्ण हो जाते हैं। सत्ययुग में ध्यान का वर्णन किया गया है। परन्तु इस कलिकाल में मन अत्यन्त चंचल होने के कारण ध्यान करना सम्भव नहीं है। इसलिए कलियुग में महाध्यान की बात कही गयी है। हरिनाम संकीर्तन ही वह महाध्यान है। सत्ययुग में अल्प ध्यान की बात प्रचलित थी। परन्तु उस ध्यान से तो औदार्य विग्रह श्रीगौरसुन्दर का दर्शन सम्भव नहीं था। इसलिए कलियुग में संकीर्तनरूपी महाध्यान की व्यवस्था है, जिसके माध्यम से श्रीगौरसुन्दर का दर्शन हो सकता है। सत्ययुग का साधन ध्यान था, परन्तु जब उसमें कुछ दोष प्रवेश कर गये, तो फिर त्रेतायुग में यज्ञों का प्रचलन हुआ। अर्थात् त्रेतायुग में लोग यज्ञ के द्वारा भगवान को सन्तुष्ट करते थे। इसीलिए कलियुग में हरिनाम संकीर्तनरूपी महायज्ञ की विधि है। त्रेतायुग के साधन यज्ञ में कुछ दोष आ जाने पर द्वापर युग में अर्चन विधि प्रचलित हुई। इसीलिए कलियुग में महार्चन की विधि का वर्णन है। श्रीकृष्णनाम संकीर्तन ही वह महार्चन है। जब रोगी समस्त प्रकार की चिकित्सा करने पर भी ठीक नहीं होता है, तो उस समय जिस प्रकार उस रोगी को विषबटी खाने को देते हैं, उसी प्रकार कलियुग में जीव की चरम दुर्दशा देखकर ही श्रीहरिनाम संकीर्तन की व्यवस्था दी गयी है। श्रीनाम में समस्त शक्ति समर्पित हुई है—उसमें समस्त शक्ति परिपूर्ण मात्रा में है।

हरिनाम-कीर्तन ही महाध्यान, महायज्ञ एवं महार्चन है। कृष्ण का ध्यान, यज्ञ, अर्चन साधारण है, कृष्णकीर्तनरूप महाध्यान, महायज्ञ, महार्चन में

उनके समस्त विषयों की परिपूर्णता है। श्रीनामभजन ही महार्चन, महायज्ञ, महाध्यान है। इस महाध्यान में अन्यमनस्क होना उचित नहीं। बुद्धिमान व्यक्ति इस महाध्यान, महायज्ञ एवं महार्चनरूप हरिनाम संकीर्तन करते हैं, परन्तु उसके अतिरिक्त दुर्बुद्धिपरायण लोग हरिनाम संकीर्तन के अतिरिक्त अन्यान्य उपायों का अवलम्बन करते हैं, जिससे उनका मंगल नहीं होता। श्रीमद्भागवत में ऐसा कहा गया है—

कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णं सांगोपागास्त्रपार्षदम्।
यज्ञैः संकीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः॥
संकीर्तनयज्ञे कलौ कृष्ण-आराधन।
सेइ त सुमेधा पाय कृष्णेर चरण॥

(चैतन्य-चरितामृत)

संकीर्तन यज्ञ के द्वारा ही कलियुग में कृष्ण की आराधना की बात कही गयी है। जो ऐसा करता है, वह परम बुद्धिमान है तथा वह कृष्ण के चरणों को प्राप्त कर लेता है।

प्रश्न 91—भक्त के विचार कैसे होते हैं?

उत्तर—मुक्त व्यक्ति मुक्ति की कामना नहीं करते। भक्तगण ही मुक्त हैं। इसीलिए उनकी धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष की कामना नहीं रहती।

भक्ति ही एकमात्र सुख है। भक्ति के अतिरिक्त सभी वस्तुओं में सुख का अभाव है। इसीलिए भक्त ही एकमात्र सुखी हैं। उनके अतिरिक्त सभी दुःखी और अशान्त हैं। भक्ति न रहने पर कर्मी, ज्ञानी, योगी, भोगी या त्यागी किसी को भी शान्ति नहीं मिलती। मुझे सुख हो, मेरे अतिरिक्त अन्यान्य लोगों को दुःख हो, इसी का नाम ही अन्याभिलाष है। यह कर्म, ज्ञान आदि का मार्ग है। परन्तु किसी को भी वंचित किये बिना सभी मिलकर हरिकीर्तन करें, चौबीस घण्टे हरिकीर्तन करें, ऐसा विचार तो केवल भक्तिपथ के पथिक भक्तों का ही हो सकता है। केवलाभक्ति के पथपर अन्य किसी साधन की सहायता या मिश्रण स्वीकृत नहीं होता। क्योंकि कीर्तन ही एकमात्र निरपेक्ष अव्यर्थ अस्त्र है। सर्वप्रथम इस कीर्तन को कान से सुनना पड़ता है, तब भगवान के रूप, गुण परिकर वैशिष्ट्य एवं लीलांओं का दर्शन होता है। भक्तलोग ऐसे विचारों को ग्रहणकर ही क्रमपन्था में उन्नत होते हैं।

प्रश्न 92—भगवान की जन्म-लीला किस प्रकार की है?

उत्तर—नित्यसिद्ध होने के कारण शचीमाता एवं जगन्नाथ मिश्र का हृदय एवं देह—दोनों ही शुद्ध-सत्त्वमय हैं, साधारण बद्धजीव की भाँति जड़ नहीं हैं। विशुद्ध सत्त्व का नाम वसुदेव है। वसुदेव के हृदय में ही चिद्विलासी वासुदेव प्रकटित होते है। जड़ इन्द्रिय तर्पणमय, प्राकृत रक्तमांसमय देह, स्त्री-पुरुष की कामक्रीडा एवं गर्भ की भाँति जगन्नाथ एवं शचीदेवी का

मिलन एवं शचीदेवी का गर्भसंचार नहीं हुआ है। अतः मन ही मन ऐसी चिन्ता करना भी अपराध है। भगवान की सेवा के उन्मुख चित्त से विचार करने पर शुद्धसत्त्वमय शचीदेवी के अप्राकृत गर्भ की महिमा को समझा जा सकता है। भागवत की टीका में श्रीधर स्वामी पाद कह रहे हैं—

मनः आविवेश मनसि आविर्वभूव, जीवानामिव न धातुसम्बन्ध इत्यर्थः।

इस सम्बन्ध में श्रीरूप गोस्वामी प्रभु लघुभागवतामृत ग्रन्थ में कह रहे हैं—कृष्ण सर्वप्रथम वसुदेवजी के हृदय में प्रकट होते हैं। तत्पश्चात् वसुदेवजी के हृदय से देवकीजी के हृदय में प्रकटित होते हैं। श्रीचैतन्यचरितामृत में आदि 13 परिच्छेद में हम देखते हैं—

जगन्नाथ मिश्र कहे—स्वप्न जे देखिल।
ज्योतिर्मय धाम मोर हृदये पशिल॥
आमार हृदय हैते गेला तोमार हृदये।
हेन बुझि जन्मिबेन कोन महाशये॥

अर्थात् जगन्नाथ मिश्र शचीदेवी को कह रहे हैं—स्वप्न में देखा कि एक अत्यन्त ज्योतिर्मय स्वरूप मेरे हृदय में प्रवेश कर गया। तत्पश्चात् मेरे हृदय से वह स्वरूप तुम्हारे हृदय में प्रवेश कर गया। इससे ऐसा लगता है कि अवश्य ही कोई महापुरुष प्रकटित होंगे।

प्रश्न 93—श्रीराधारानी को अभी हम कहाँ प्राप्त कर सकते हैं?

उत्तर—श्रीराधारानी अभी नहीं हैं, ऐसी बात नहीं है। अभी हम उन्हें प्राप्त कर सकते हैं, उनकी सेवा प्राप्त कर सकते हैं। यदि हम श्रीगुरुदेव में श्रीराधारानी के चरणनख की शोभा का दर्शन करे, तो राधारानी को हम कहाँ प्राप्त करेंगे—ऐसा विचार कभी भी हमारे हृदय में नहीं आयेगा। यदि भाग्य अच्छा हो, तो श्रीराधारानी के निजजन, श्रीराधाजी से अभिन्न मूर्ति श्रीगुरुदेव में श्रीराधारानी के पदनख की शोभा का दर्शन एवं उनकी सेवाप्राप्ति का सौभाग्य प्राप्त कर सकते हैं। मधुर-रस में श्रीगुरुदेव श्रीराधारानी की प्रिय सखी एवं उनसे अभिन्न हैं। मधुर-रस के आश्रित गुरुनिष्ठ भक्तों का ही श्रीगुरुदेव में श्रीराधारानी के पदनख की शोभा का दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त होता है। श्रीगुरुदेव श्रीराधाजी के प्रकाशमूर्ति या अभिन्न वार्षभानवी हैं, इसे एकमात्र गुरु के स्निग्ध शिष्यगण ही अनुभव कर सकते हैं।

प्रश्न 94—किसी घटना के घटने पर उसे किस रूप में देखना चाहिए?

उत्तर—उस ओर (अर्थात् कृष्ण की ओर) देखकर—कृष्ण की ओर देखते रहें, तो सब ठीक है। परन्तु उस ओर न देखकर इस ओर देखें, अपने या दूसरे के कर्तृत्व की ओर देखें, तो हमें सब उल्टापुल्टा दिखाई देगा।

उस ओर (कृष्ण की ओर) देखना अवरोह पन्था या श्रौतपन्था या Deductive process में देखना है। परन्तु इस ओर से देखने का तात्पर्य आरोहपन्था या Inductive process से देखना है। देखने का तात्पर्य है—माप लेने की बुद्धि के द्वारा देखना अथवा भगवान का कर्तृत्व न देखकर अपने कर्तृत्व के अहंकार से देखना। इसका ही फल दुःख है।

प्रश्न 95—वर्तमान समय में जीवों की अवस्था कैसी है?

उत्तर—हम केवल इसी जन्म के कुछ दिनों के लिए ही शरीर को लेकर व्यस्त रहते हैं। किन्तु इस जीवन के बाद क्या है, हमारे जीवन का क्या कर्त्तव्य है, इस विषय में हम लेशमात्र भी विचार नहीं करते। साधारण मनुष्य जाति के जड़ विचारों के द्वारा जितने प्रकार के धर्मों की चर्चा होती है, वे सब वास्तव में छल-धर्म हैं। शास्त्र कहते हैं—

पृथिवीते जत कथा धर्म नामे चले।
भागवत कहे सब परिपूर्ण छले॥

अर्थात् पृथ्वी में धर्म के नाम पर जितनी बातें प्रचलित हैं, भागवत के अनुसार वे सब छलपूर्ण हैं।

हम अग्रसर हो रहे हैं या पीछे की तरफ जा रहे हैं, ऐसा तुलनामूलक विचार होना अति आवश्यक है। जितने भी मनोधर्मी लोग होते हैं, उनकी गति सत्य के विपरीत दिशा में होती है। श्रीचैतन्यदेव ने तो केवल वास्तव सत्य के मार्ग पर अग्रसर होने की शिक्षा ही दी है। किन्तु जो अहंकार पूर्वक कहते है कि 'हम स्वयं ही ब्रह्म बन जायेंगे' ऐसे भ्रान्तिपूर्ण पथ पर चलनेवाले लोगों का उद्धार करना अति आवश्यक है। मरने से पहले मनुष्य को दो बातें अच्छी तरह से समझ लेनी चाहिए। भारतवर्ष में प्रचलित हजारों मतवादों की मीमांसा तभी हो सकती है, यदि श्रीचैतन्यदेव के भक्तों के संग का सौभाग्य प्राप्त हो।

अदूरदर्शी लोग तेलचट्टा के विष्ठायुक्त भोजन खाकर ही दिन काट रहे हैं। वे ऐसा सोचते है कि इसे छोड़कर और कुछ खाने की वस्तु है ही नहीं। कुछ लोग ऐसा भी कहते हैं कि जगत में रहने की आवश्यकता नहीं है, अपनी सत्ता लोप कर देने से ही शान्ति मिल सकती है। जैसे कि शाक्यसिंह बुद्ध का विचार (अचिन्मात्रवाद) था। शंकराचार्य ने चिन्मात्र की बात कही—चेतन को छोड़कर और सब वस्तु मिथ्या हैं। पुनः केवल अचेतनवादी या जड़वादी लोग Altruist idea (परोपकार का) विचार लेकर ही घूम रहे हैं। वे जागतिक ज्ञान संग्रह करने में व्यस्त हैं। परन्तु आवश्यकता तो चेतन वस्तु के विषय में विचार करने की है।

एक विरुद्ध शक्ति मनुष्य को Delude (वंचना) कर रही है। भगवान की कथाओं की चर्चा करने पर उनके चक्कर में नहीं पड़ना पड़ेगा। सारे जगत को भगवान का सेवक के रूप में देखने पर किसी प्रकार का दुःख नहीं रह जाएगा। कृष्णानुशीलन के अभाव के कारण ही

यह असुविधा हो रही है। श्रीकृष्ण ने गीता में जो कहा है, महाप्रभु ने एक ही बात में उसी विषय को कह दिया है—

जीवेर स्वरूप हय कृष्णेर नित्यदास।
कृष्णेर तटस्था-शक्ति भेदाभेद-प्रकाश॥
कृष्ण भुलि सेइ जीव अनादि बहिर्मुख।
अतएव माया तारे देय संसारादि दुःख॥

अर्थात् जीव स्वरूपतः कृष्ण का नित्यदास है, कृष्ण की तटस्था-शक्ति है और उसका कृष्ण से भेद एवं अभेद दोनों हैं। कृष्ण को भूलकर जीव अनादि काल से बहिर्मुख हो गया है, इसलिए माया उसे अनेक प्रकार के सांसारिक दुःख प्रदान कर रही है।

भगवान कह रहे है—हे जीव! तुम अनादि काल से बहिर्मुख हो। तुममें अन्तर्मुख धर्म भी था। तुम मेरी सेवा कर सकते थे। किन्तु ऐसा न कर तुम मुझसे सेवा चाह रहे हो। Absolute भगवान से उत्पन्न होने पर भी स्वतंत्ररूप में भोग करने के लिए माप लेने की बुद्धि प्राप्त की है। तुम स्वयं प्रभु के रूप में सजना चाहते हो? क्या तुम जानते नहीं कि तुम सेवक हो? हम भगवान के सेवक हैं। यदि हम भगवान की सेवा न कर उनसे सेवा लेना चाहें तो हमारा कभी भी मंगल नहीं हो सकता। हरि सबके प्रभु हैं और बाकी सब उनके दास हैं। उनकी कथा सुनना ही उनकी सेवा है। जो सब कथाएँ जगत के व्यवहार के लिए है, उनका नाम हरिकथा नहीं है। भगवान की कथाओं का कीर्तन करने वाले गुरु होते हैं तथा श्रवण करने वाले शिष्य होते है। श्रवणकारी submissive (गुरु के शरणागत) होंगे। जो सुनने में कुछ द्विधा अनुभव करते हैं, ऐसे लोगों के निकट हरिकथा बोलने से उनका कुछ भी मंगल नहीं होगा। हरिकथा सुनने के लिए उत्कण्ठा होनी चाहिए। श्रवणकारी को inquisitive (जिज्ञासु) होना अति आवश्यक है। व्यर्थ में ही समय नष्ट करने की आवश्यकता होने पर मन में अन्य विचार आ जायेंगे। हम यदि सौभाग्यवान हैं, तभी हमलोग शुद्ध हरिकथा का अनुसन्धान करेंगे। तभी हमलोग better way pass करेंगे अर्थात सत् मार्ग पर चल पायेंगे।

जिस दिन भगवत् कथा की चर्चा का सुयोग प्राप्त नहीं होता, वही दिन दुर्दिन है, मेघाच्छन्न दिन दुर्दिन नहीं है। शास्त्र कह रहे हैं—

तद्दिनं दुर्दिनं मन्ये, मेघयाच्छन्न न दुर्दिनम्।
यद्दिनं कृष्णसंलाप-कथा-पीयूषवर्ज्जितम्॥

प्रश्न 96—हम अपने स्वरूप का परिचय किस प्रकार प्राप्त करेंगे?

उत्तर—मेरा वास्तव-देह है—ऐसी स्मृति यदि जागृत नहीं होती, तब अपस्मृति (जड़ीय स्मृति) ही रह गयी—जड़देह में आत्मबुद्धि नहीं गयी। अधोक्षज वस्तु जड इन्द्रिय से अतीत है। वे हृषीकेश हैं। इन्द्रिय द्वारा उनकी

सेवा करनी होगी। सेवा-उन्मुख इन्द्रिय या चिद्-इन्द्रिय द्वारा उनकी सेवा होती है। श्रीगुरुदेव की कृपा से ही चिदानन्दस्वरूप प्राप्त होता है। आत्मा के द्वारा ही परमात्मा की सेवा होती है, वास्तव देह के द्वारा सच्चिदानन्द विग्रह भगवान की सेवा, चिद्-इन्द्रिय द्वारा हृषीकेश की सेवा होती है। अधोक्षज-सेवाहीन मनुष्य पशु के समान है। सदैव साधुसंग करना चाहिए। भगवद् भक्त साधु निरन्तर भगवान की सेवा मे व्यस्त हैं। उनका संग होने से हममें भी भगवान को सुख देने की प्रवृत्ति जग जाएगी, साधुसंग के फल से ही यथार्थ देह का परिचय प्राप्त होगा। तभी देहात्मबुद्धि या प्राकृत अभिमान नहीं रहेगा, सर्वनाश करनेवाली अपने सुख की इच्छा सदा के लिए दूर हो जाएगी।

भक्त भोगी (बुभुक्षु) भी नहीं, त्यागी (मुमुक्षु) भी नहीं है। भक्त भगवत् सेवा में मग्न है—भगवान के सुख-विधान में तत्पर है। भोगी की कुचेष्टा होती है—भगवान को वञ्चित कर मैं भोग करूँगा। मैं भगवान होकर भगवान को ठग लूँगा—यही त्यागी मायावादी की चेष्टा है। भक्त में ये सभी कुप्रवृत्तियाँ नहीं होती हैं। वे सेवा के प्रभाव से अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित है—सेवक-अभिमान से प्रमत्त है।

मैं भगवान का सेवक हूँ—यही जीव का स्वरूप है। भगवत् सेवकों के संग में भगवत्सेवा करते-करते ही यह स्वरूप जागृत होता है। तब विरूप की चेष्टा देखी नहीं जाती।

प्रश्न 97—भगवत् सेवाविहीन मानव को पशु के समान क्यों कहा जाता है?

उत्तर—भगवत सेवा ही जीव का कर्त्तव्य है—यह ज्ञान पशु का नहीं है। पशु केवल अपनी इन्द्रियों को तृप्त करना और अपनी जाति के इन्द्रियतर्पण को समझता है। अपने इन्द्रियतर्पण के अतिरिक्त वे और कुछ नहीं जानते। मनुष्य भी यदि केवल अपने इन्द्रियतर्पण या स्वसुख को लेकर रहता है, भगवत् सेवा का विचार—भगवान को सुख देने की प्रवृत्ति यदि उसकी नहीं है, वह यदि पशु की भाँति केवल आहार-विहार को लेकर व्यस्त रहता है, तब उसको पशु के समान या नरपशु के अतिरिक्त और क्या कहा जाएगा?

कृष्णसुख-कामना या कृष्णभक्ति ही धर्म है। यह भक्ति जिनमें है, वे वास्तव में मानव पदवाच्य है। **'धर्मेण हीना पशुभिः समाना।'** स्वसुखकामना ही पशुत्व या कामुकत्व है। कृष्णसुख कामना ही वास्तव मनुष्यत्व है।

प्रश्न 98—क्या धर्म मनुष्य द्वारा सृष्ट वस्तु है?

उत्तर—कभी नहीं। श्रीमद्भागवत में कहा गया है—

धर्मन्तु-साक्षाद्भगवत्प्रणीतं न वै विदुरृषयो नापि देवाः।
न सिद्धमुख्या असुरा मनुष्याः कुतो नु विद्याधर-चारणादयः॥

(भागवत 6/3/19)

धर्म साक्षात् भगवत् प्रणीत है। भृगु आदि सत्त्वगुणप्रधान ऋषिगण भी यह नहीं जानते, देवतागण भी नहीं जानते, सिद्धगण, असुरगण, मनुष्यगण कोई भी नहीं जानते; विद्याधर और चारण आदि की बात और क्या बताऊँ?

भागवतधर्म या परमधर्म मनुष्य द्वारा सृष्ट नहीं है अथवा मनुष्यसृष्टि के बाद वह सृष्ट नहीं हुआ। वह नित्यकाल है और रहेगा। वह अपरिवर्तनीय और अखण्डनीय है। अधोक्षज श्रीहरि में भक्ति ही वह धर्म है। इसके अतिरिक्त अन्य मनःकल्पित जिन सभी धर्मों का जगत में प्रचार हुआ है, हो रहा है और होगा, वे सब मनुष्य के कल्पित अनित्यधर्म या परमधर्म के विरोधी धर्म हैं। इसलिए भागवतधर्म, परमधर्म या आत्मधर्म के साथ देहधर्म और मनोधर्म का एकाकार नहीं हो सकता। अतः भगवान कृष्णचन्द्र ने गीता में अन्य सभी धर्मों का परित्याग कर भगवद्-आश्रयरूप नित्यधर्म को ग्रहण करने का उपदेश दिया है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

भागवतधर्म आत्मा की नित्य वृत्ति है। आत्मा मानवसृष्टि से पहले भी विराजित थी। उसी नित्य आत्मा की वृत्ति भक्ति धर्म भी नित्य है। इस आत्मधर्म को प्रकट कराने के लिए जो यत्न किया जाता है, वही साधन है।

पशुस्वभाव मनुष्य को मनुष्य नाम के योग्य कराना साधारण नैतिक धर्म का कार्य है, किन्तु भागवतधर्म इससे अधिक ऊपर में है, जीव को परात्पर भगवान की सेवा में सम्पूर्ण योग्यता देने के लिए ही भागवत धर्म का नित्य प्रयोजन है। एक ही बात में भागवतधर्म में मनुष्य या प्राणी का सुविधावाद नहीं हैं, उसमें है अधोक्षज भगवान का सोलह आना (शत प्रतिशत) नित्य सुखान्वेषण। वही यथार्थ सुख या अक्षय सुखप्राप्ति का एक उपाय है।

Vox populi is not vox Dei but vox Dei should be vox populi. अर्थात् गणमत परमेश्वर की वाणी नहीं है, परमेश्वर की वाणी सज्जनमत होनी चाहिए—यही महाजनों का उपदेश है। किन्तु चिज्जड़ समन्वयवादी ठीक इसके विपरीत बात कहते हैं—'जितना मत उतना पथ'। गणमत होगा ईश्वर प्राप्ति का पथ या परमेश्वर का मत। कैसी आश्चर्य की बात है! जहाँ गणमत-प्रियता ही धर्म है, वहाँ परमेश्वर में प्रीति निर्वासित है; जहाँ जगत के लोगों का समर्थन यथार्थ सत्य के निर्धारण की कसौटी है, वहाँ भी अकृत्रिम सत्य अस्तमित है।

प्रश्न 99—क्या भगवत्-सेवा ही यथार्थ स्वाधीनता है?

उत्तर—हाँ। हम इतने मायाधीन ओर पराधीन हैं कि अपनी रक्षा स्वयं नहीं कर सकते। इसलिए पार्थिव क्षमता को विश्वासघातिनी जानकर

श्रीमद्भागवत ने एकमात्र अनुक्षण भगवदनुशीलन के लिए हमें उपदेश दिया है। हम सदैव मृत्यु के कवल में फंसे हुए हैं। अतः माया के राज्य में हमारी स्वाधीनता कहाँ है? एकमात्र हरिसेवा में नियुक्त होने से ही हम आत्मा की स्वस्थता और नित्य स्वाधीनता में प्रतिष्ठित हो सकेंगे।

प्रश्न 100—क्या शरणागति के बिना कल्याण नहीं हो सकता?

उत्तर—नहीं। जबतक कृष्ण के चरणों में सम्पूर्ण रूप से शरणागत न हुआ जाए, तब तक कल्याण सम्भव नहीं है। यदि हमें कदम-कदम पर कृष्ण का स्मरण न हो तो अवश्य ही हम विपथगामी हो जाएँगे। जड़ ज्ञान के द्वारा 'मैं एवं मेरा' का भाव प्रबल रहने पर अवश्य ही विपदग्रस्त होना पड़ता है। हम जगत् को भोग करने वाले हैं, ऐसी कुबुद्धि होने पर अवश्य ही अधःपतन हो जायेगा। हम चेतन वस्तु हैं, जगत अचेतन वस्तु है। हम जिसे भोग कर सकते है उसे जड़ कहते हैं। हम अपने स्वरूप (भगवत् दासत्व) को भूलकर जगत की वस्तुओं को अपने भोग के लिए समझकर भोक्ता अभिमान के वशीभूत हो जाते हैं। धीरे-धीरे अहं भाव (भोक्ता भाव) बढ़ते-बढ़ते मैं भगवान हूँ, मैं खुदा हूँ, ऐसे कुविचार आकर जीव का सर्वनाश कर देते है। 'मैं श्रेष्ठ होऊँगा' इस भावना से ग्रस्त होने पर जीव के कल्याण का पथ सम्पूर्ण रूप से बन्द हो जाता है।

प्रश्न 101—मठ में कौन रहेंगे?

उत्तर—हमें मठ में कसरत करने वालों की आवश्यकता नहीं हैं। जो बाबू बनना चाहते हैं उनकी भी आवश्यकता नहीं है। केवल भगवत् भक्त ही मठ मे रहेंगे।

जो शिश्नोदर परायण अर्थात् स्त्रियों में आसक्त एवं पेटू व्यक्ति मठ में रह रहे हैं, उन्हें एक-एक करके मठ से विदा करके मठ का खर्चा कम करना चाहिए। इस तरह जगत का जंजाल कम होगा।

जो व्यक्ति मठ का आचार-विचार पालन नहीं करते हैं। गुरु का आनुगत्य भी नहीं करते हैं एवं जिनमें दीनता नहीं है ऐसे स्वेच्छाचारी एवं दाम्भिकों को घर भेज देना ही उचित है। ऐसा करने पर यदि मठ में लोगों की संख्या कम हो जाए तो भी अच्छा ही है। जो हरि भजन नहीं करते हैं तथा लाभ, पूजा, प्रतिष्ठा एवं कनक, कामिनी (स्त्री) के पीछे भागते रहते हैं उन्हें मठ में रखना उचित नहीं है। क्योंकि वे मठ में रहते हुए भी अन्दर से मठ के विरोधी हैं। मैं मठ में अनेक दिनों से हूँ, मैंने मठ के लिए बहुत कुछ किया है, इसलिए मैं अच्छा खाऊँगा, अच्छे कपड़े पहनूँगा, मुझे उचित सम्मान मिलना चाहिए, मठ की सम्पत्ति में भी मेरा आधा अधिकार होना चाहिए ऐसे विचारों को प्रश्रय नहीं देना चाहिए। संशय, दूसरे की निन्दा, परचर्चा करते-करते ये सब भक्ति विरोधी विचार आकर हमें भक्ति से बहुत दूर कर देते हैं।

मैं बड़ा उस्ताद हूँ, बहुत बुद्धिमान हूँ, बहुत बड़ा वक्ता हूँ एवं बहुत अच्छा गायक हूँ—इन सब भक्ति विरोधी विचारों से ग्रस्त नहीं होना चाहिए। हमें एक तिनके से भी अधिक दीन हीन होना चाहिए। यदि कोई हम पर आक्रमण करता है या हमारी निन्दा करता है, तो उस समय उसे सहन कर हरिनाम करना उचित है। उस समय ऐसा समझना चाहिए कि आज भगवान ने कृपा करके हमें तृणादपि सुनीच होने का अर्थात् दीन-हीन होने का एवं सहिष्णु होने का अवसर प्रदान किया है। जब कोई व्यक्ति हमें व्यक्तिगत रूपसे गाली-गलोज करता है, तो उस समय हमें विचार करना चाहिए कि भगवान इसके माध्यम से हम पर कृपा ही कर रहे हैं।

प्रश्न 102—किसके साथ मठ का सम्पर्क नहीं हैं?

उत्तर—जो दीक्षा (दिव्य ज्ञान) का दुरूपयोग करने के उद्देश्य से कपटता पूर्वक मठ का आश्रय ग्रहण करते हैं या आनुगत्य स्वीकार करते हैं उनके साथ मठ का किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रह सकता।

जिस प्रकार नदी पार होने के लिए एक नाव एवं नाविक की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार इस भवसागर से पार होने के लिए भी एक गुरु की भी आवश्यकता होती है। इसी भावना से आजकल लोग मुझे अपना गुरु बना रहे हैं। वास्तव में उन्होंने मुझे कभी देखा ही नहीं, और न मैं ही इनसे कभी मिला। तात्पर्य यह है कि कुछ लोग एक विधि जानकर गुरु तो कर लेते हैं, परन्तु गुरु की क्या महिमा होती है, इसे जानने की चेष्टा नहीं करते। ऐसे लोगों के द्वारा गुरु किये जाने पर भी वास्तव में गुरु करना नहीं होता।

जब हम श्रीगुरुदेव के साथ तर्क-वितर्क करते हैं और अपनी बुद्धि के द्वारा गुरु को जानने की चेष्टा करते हैं, उनका अनुसरण न कर अनुकरण करते है, तभी हमारा सर्वनाश होता है। ऐसी दुर्बुद्धि को छोड़कर जब हम श्रीगुरुचरणों में आत्मसमर्पण करें तभी हमारा मंगल हो सकता है।

अर्थ, विद्या, योग्यता, पाण्डित्य इत्यादि वस्तुओं की इच्छा भगवत् भक्त भी नहीं करता है, क्योंकि इनके द्वारा गुरु वैष्णव के चरणों में अपराध होने की सम्भावना बढ़ जाती है। जिसके कारण जीव गुरु एवं कृष्ण सेवा से वञ्चित हो जाता है।

प्रश्न 103—भगवान किसे अपनी ओर आकर्षित करते हैं?

उत्तर—नन्दनन्दन कृष्ण ही स्वयं भगवान हैं। वे कृष्ण वस्तु ही त्रिभुवन को आकर्षित करते हैं। कृष्ण के प्रिय श्रीगुरुदेव ही श्रीकृष्ण की आकर्षणी शक्ति हैं। वास्तव वस्तु ही आकर्षक होती है। वे वास्तव वस्तु भगवान कृष्ण किसे आकर्षित करते हैं? चुम्बक लोहे को अपनी ओर आकर्षित करती है लकड़ी को नहीं, क्योंकि लोहे एवं चुम्बक की जाति एक ही है, परन्तु काष्ठ विजातीय होता है। उसी प्रकार भगवान अपने भक्तों

को ही अपनी ओर आकर्षित करते हैं। क्योंकि भगवान चिद् वस्तु हैं एवं जीव भी चिद् वस्तु हे, परन्तु माया के सम्पर्क में आने से उसका यह गुण ढक जाता है। जब वह गुरुचरण आश्रयकर भजन करता है, उसका माया बन्धन कट जाता है एवं चिद् गुण प्रकाशित हो पड़ता है, जिसके फलस्वरूप वह स्वाभाविक रूप से ही भगवान की ओर आकृष्ट हो पड़ता है। भगवान के स्नेह एवं माधुर्य का अनुभव कर सेवोन्मुख जीव या सेवक उनकी ओर आकृष्ट हो जाते हैं। वे आकर्षक वस्तु भगवान अपनी अचिन्त्य शक्ति के द्वारा ऐसे जीवों को खींचकर ले जाते हैं। बीच में यदि वह जीव दूसरी वस्तु की ओर आकर्षित हो जाता है, तो उस समय वह मूल वस्तु भगवान के आकर्षण से छूट जाता है।

एक ओर बन्धनमूलक संसार का आकर्षण है तो दूसरी ओर कृष्ण का आकर्षण है। इस जगत में रूप, रस, स्पर्श, गन्ध, शब्द आदि आकर्षक वस्तुएँ हमारे बहुत निकट हैं, हम दुर्बल होने के कारण उनकी ओर आकर्षित हो जाते हैं। इस आकर्षण से बचने के लिए (living force) बलवान साधु के मुख से हरिकथा श्रवण करनी चाहिए। यदि हम साधु गुरुओं के मुख से भगवान की कथाओं को श्रवण करते हैं, तो निकट ही स्थित शत्रु (रूप, रस, गन्ध, शब्द आदि) से बच सकते हैं। यदि हम कृष्ण की ओर आकर्षित नहीं होते हैं तो हमें माया की ओर आकर्षित होना ही पड़ेगा।

प्रश्न 104—तर्कपन्थी कौन हैं?

उत्तर—जब तक मनुष्य तर्क-वितर्क करता है, तब तक उसे गुरु का दर्शन नहीं हो सकता। श्रीगुरुदेव की वाणी ही सत्य है। इस वास्तव सत्य अर्थात् गुरुदेव के वचनों की परीक्षा करने की इच्छा ही तर्क पथ है। जो तर्क पन्थी हैं, वे गुरुदेव की अवज्ञा करते हैं। एकमात्र गुरुदेव ही समस्त प्रकार के संशयों को दूर करने में समर्थ हैं। तर्क का कोई आधार नहीं होता है। आम्नाय धारा (गुरु-परम्परा) से जो सत्य चला आ रहा है, वह कभी भी बदल नहीं सकता है। उस अपरिवर्तनीय सत्य को प्रदान करने वाले को ही गुरु कहते हैं। गुरुद्रोही के तर्कनिष्ठ हृदय में जो विचार आते हैं, उनमें गुरु अवज्ञा ओर शास्त्र की अवज्ञा होती है।

प्रश्न 105—मठ से दूर रहकर या संसार में रहकर हरिकथा श्रवण करना कैसे सम्भव हो सकता है?

उत्तर—हमारे मठ में सभी भक्तलोग हरिकथा एवं हरिसेवा में रत हैं। ऐसे साधु, भगवान की सेवा एवं हरिकथा ही जिनका प्राण है, उनका संग सभी के लिए अति आवश्यक है। जिस स्थान पर भगवान की कथा नहीं होती, उस स्थान पर चाहे कितने ही स्वजन बन्धु-बान्धव, धन-सम्पत्ति यहाँ तक कि इन्द्र के समान ऐश्वर्य भी क्यों न हो, वह स्थान रहने योग्य नहीं

है। भगवान की कृपा से मठ में मठवासियों को सर्वदा हरिकथा एवं हरिसेवा में रत देखकर महाप्रभु की करुणा का अनुभव होता है।

जो सज्जन पुरुष अपना आत्मकल्याण चाहते हैं उन्हें बीच-बीच में मठ में आकर श्रद्धापूर्वक गुरु एवं वैष्णवों से भगवान की कथाओं को श्रवण करना चाहिए। यदि हमारी भगवान की कथाओं एवं भगवान की सेवा में रुचि हो, तभी हम असत् संग से बच सकते हैं। यदि हम हमेशा पारमार्थिक पत्रिकाएँ एवं महापुरुषों द्वारा रचित ग्रन्थ आदि की आलोचना करें और साथ ही श्रीगुरु एवं श्रीचैतन्य महाप्रभु से कृपा भिक्षा मांगें, तो उन ग्रन्थों के अध्ययन से ही भक्तों के मुख से हरिकथा श्रवण का फल प्राप्त होता है।

यद्यपि इस पृथिवी पर भगवान के धाम से माया बद्धजीवों का कल्याण करने के लिए आये हुए उनके परिकरों का दर्शन नहीं हो रहा है, फिर भी श्रीचैतन्य महाप्रभु के समय उनके साथ जो उनके परिकर आये थे, उनकी शिक्षाएँ एवं उनका जीवन चरित्र ग्रन्थ रूप में हमारे समक्ष अभी भी विद्यमान है। अतः हमें यह सोचकर निराश नहीं होना चाहिए कि हम क्या करें? आजकल महाप्रभु के परिकर हमारे समक्ष नहीं हैं। अतः हमारा कल्याण कैसे होगा? हमें तो सर्वदा उन महापुरुषों के द्वारा रचित उनके ग्रन्थों, शिक्षाओं एवं उनके अलौकिक जीवन चरित्र का अनुशीलन करते रहना चाहिए। हम यदि मठ में भगवान की कथाओं में रत रहें तो हमारा मंगल अवश्य ही होगा और किसी प्रकार की असुविधाएँ हमारे मंगल के मार्ग में बाधा नहीं पहुँचा सकतीं।

भगवान की इच्छा से हम कहीं भी क्यों न रहें, यदि वहीं पर भगवान की कथाओं का हम अनुशीलन करते हैं, तो समस्त प्रकार के सांसारिक कार्य एवं सांसारिक बातों में भी हमें भगवान की कृपा, भगवान की स्मृति एवं भगवान की भक्ति का अनुभव होगा। भगवान अपने भक्तों को जिस किसी भी अवस्था में रखकर सुखी हों, वे भक्त उसी अवस्था में रहकर अपने दुःखों को भूलकर भगवान का गुणगान करते हैं। साधुओं का संग एवं हरिकथा की आलोचना करते-करते हमारे हृदय में भगवान की सेवा की प्रवृत्ति अवश्य ही उदित होगी। इसी अवस्था में हमें भगवान का स्मरण रहेगा। हमारी परीक्षा लेने के लिए भगवान सदैव ही आड़ में छिपे रहते हैं। प्रत्येक घटना के पीछे भगवान की कृपा अनुभव करने पर किसी प्रकार का दुःख-कष्ट हमें व्यथित नहीं कर सकेगा।

यह संसार जीवों के लिए परीक्षा का स्थल है। इन परीक्षाओं में पास होने के लिए शुद्ध भक्तों से अवश्य ही भगवान की कथाओं को सुनना होगा। यद्यपि सब समय साधुओं के मुख से हरिकथा श्रवण करने का अवसर प्राप्त नहीं हो सकता तथापि यदि स्वयं ग्रन्थ आलोचना के माध्यम से हरिकथा श्रवण करें तो हमें सत्संग का अभाव नहीं खलेगा। भगवान के भक्त सर्वत्र ही भगवान का ही दर्शन करते हैं, परन्तु भगवान के विद्वेषी

अभक्तलोग भगवान के अस्तित्व को ही स्वीकार नहीं करते हैं। परन्तु हम इन दोनों के मध्य में हैं। एक क्षण के लिए हमारी रूचि होती है, तो अगले क्षण भगवान को भूलकर विषय भोगों में लिप्त हो जाते हैं। यदि हमारी भगवान की सेवा में प्रमत्त रहने की इच्छा प्रबल हो जाय तो विषय भोगों से स्वतः ही विरक्ति हो जाएगी। सांसारिक विषयों में तात्कालिक सुख या दुःख विद्यमान रहते हैं, परन्तु भगवान की सेवा में भगवान को आनन्द प्राप्त होता है। इसीलिए हम भगवान के सुख के लिए ही सर्वदा उनकी सेवा रत रहते हैं।

प्रश्न 106—क्या वैष्णव संग की विशेष आवश्यकता है?

उत्तर—अवश्य ही। गुरु का संग, गुरु के प्रति निष्ठा एवं वैष्णव संग विशेष मंगलप्रद है। क्योंकि हम अनर्थ-ग्रस्त होने के कारण पूर्णरूप से अयोग्य हैं। यदि हम वैष्णव-संग न करें, तो वैष्णव सदाचार, गुरु वैष्णव एवं भगवान की सेवा की शिक्षा हम किस प्रकार प्राप्त कर सकेंगे? हमेशा किसी को अपना एक आदर्श बनाना चाहिए। यदि हम एक ऐसे वैष्णव को अपना आदर्श न बनाएँ अर्थात् उसका संग न करें, जिसकी गुरु, भगवन्नाम एवं भगवत् सेवा के प्रति प्रगाढ़ निष्ठा है, तो हमारी गुरु के प्रति निष्ठा, उनके प्रति अपनत्वका भाव, गुरु के प्रति ईश्वर-बुद्धि एवं गुरु और भगवान की सेवा की प्रवृत्ति कहाँ से उदित होगी? किस प्रकार गुरु-सेवा करनी चाहिए, गुरु के साथ कैसा व्यवहार रखना चाहिए, इन सब बातों को यदि कोई निष्कपट गुरुनिष्ठ वैष्णव हमें न बताए, तो हम सद्गुरु प्राप्त करते हुए भी उन्हें खो बैठेंगे, गुरू के निकट रहकर भी गुरु-सेवा से वञ्चित हो जायेंगे।

प्रश्न 107—क्या भगवान की सभी व्यवस्थाओं को आनन्दपूर्वक स्वीकार करना चाहिए?

उत्तर—निश्चय ही। भगवान मंगलमय वस्तु हैं, इसलिए उनकी व्यवस्थाएँ मंगलप्रद ही होंगी। मंगलमय भगवान की व्यवस्थाओं में किसी प्रकार का अमंगल रहने की सम्भावना लेशमात्र भी नहीं हैं। दयामय की समस्त व्यवस्थाओं में दया का ही परिचय पाया जाता है। It is all for the best. भगवान जो कुछ करते हैं, सब हमारे मंगल के लिए ही करते हैं। केवल यहाँ पर हमें भगवान की दया को समझने की आवश्यकता है।

भगवान जब, जिसको जैसी अवस्था में रखते हैं उसे चुपचाप उसी स्थान पर रहकर उसे भगवान की कृपा समझकर ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि भगवान का दण्ड ओर कृपा दोनों ही जीव के कल्याण के लिए ही होते हैं। भगवान की मायाशक्ति के पुरस्कार का तो हम आदर करते हैं, परन्तु उसके तिरस्कार अथवा दण्ड को हम कष्टदायक मानते हैं। माया का यह दण्ड भगवान की कृपाप्रसाद को प्राप्त करने के उद्देश्य से ही विहित

होने के कारण भक्तगण उसका भी अनादर नहीं करते हैं। वे आनन्दपूर्वक एवं सहिष्णुता पूर्वक उसे भगवान की कृपा के रूप में ग्रहण करते हैं। जो सांसारिक अमंगलों (किसी भी प्रकार की हानियों) को भगवान की दया के रूप में नहीं समझ पाते हैं, वे पुनः सांसारिक उन्नति एवं सुख की खोज करते हैं, फलस्वरूप अन्त में निष्फल होकर निराश हो जाते हैं।

सब भगवान की ही इच्छा है। अतः किसी प्रकार का दुःख कष्ट उपस्थित होने पर उसे बिना विचलित हुए सहन करते हुए भगवान की कृपा की प्रतीक्षा करनी चाहिए। भगवान श्रीनृसिंहदेव सदैव भक्तों के अमंगलों का नाशकर उनकी रक्षा करते हैं। अतः भक्ति में अवस्थान करने वाले साधक को अपने पालन–पोषण एवं रक्षा की चिन्ता नहीं करनी पड़ती। भगवान के शरणागत होने पर मायिक जगत के समस्त प्रकार के अमंगल–समूह नष्ट हो जाते हैं।

पूर्व जन्मों के कर्मफलानुसार कभी हम स्वस्थ तो कभी अस्वस्थ हो जाते है। हम जब अपने को स्वस्थ अनुभव करते हैं, तभी हम कृष्णविमुख हो जाते है ओर स्वयं को भक्तों से श्रेष्ठ मानने लगते हैं। इसीलिए कृष्ण ने हमारी इस दुरवस्था का विचारकर हमारे कल्याण के लिए अनेक प्रकार के दुःख, कष्ट एवं असुविधाओं को बनाया है। तब भक्त लोग "तत्तेनुकम्पां" श्लोक का अर्थ समझने की चेष्टा करते हैं।

जिसमें कृष्ण का आनन्द हो, हमें सन्तुष्ट चित्त होकर वही स्वीकार करना चाहिए। कृष्ण यदि मुझे अपने से विमुख रखकर सुखी हों, तो उसके परिणामस्वरूप मुझे जो दुःख प्राप्त होंगे, उन्हें प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करना चाहिए। **"कृष्णेर सेवाय दुःख हय जत, सेओ त परम सुख"**, अर्थात् कृष्ण की सेवा करते हुए जो दुःख प्राप्त होते हैं, वे भी परम सुखद हैं। वैष्णवों को ऐसी उपलब्धि होती है। हमें इसी का अनुसरण करना चाहिए।

प्रश्न 108—क्या वैष्णवों के लिए अशौच का विचार होता है?

उत्तर—नहीं। वैष्णव गृहस्थ हों या त्यागी हों, उनके लिए किसी भी प्रकार के अशौच का विचार नहीं है। भगवान की सेवा करने से ही पितृश्राद्ध एवं पितृतर्पण आदि सबकुछ करना हो जाता है। इसलिए वैष्णवों को स्वतन्त्ररूप से श्राद्ध–तर्पणादि नहीं करना चाहिए। परन्तु लोक–व्यवहार के लिए गृहस्थ वैष्णव हरिनाम ग्रहण के द्वारा पवित्र होकर मृत्यु के उपरांत एकादश (ग्यारह) दिन बीतने पर या जिस किसी भी दिन महाप्रसाद के द्वारा पितरों का श्राद्ध कर सकते हैं, यही वैष्णव श्राद्ध हैं। [नोटः एकादशी उपवास के दिन श्राद्ध करना निषिद्ध है।]

प्रश्न 109—श्रीनाम साक्षात् कृष्ण हैं, इसे हम कब समझ पायेंगे?

उत्तर—भगवान का नाम एवं भगवान अभिन्न वस्तु हैं। जब हमारे अनर्थ नष्ट हो जायेंगे, तभी हम विशेष रूप से इसकी उपलब्धि कर पायेंगे।

जिस दिन हम अपराध छोड़कर कृष्णनाम करेंगे, उसी दिन हम स्वयं ही समझ पायेंगे कि नाम से ही समस्त प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। भगवान का नाम कीर्तन करते-करते अनर्थों के दूर होने पर श्रीनाम में ही रूप, गुण एवं लीला इत्यादि की स्वयं ही स्फूर्ति होगी। उस समय चेष्टा के द्वारा कृत्रिम रूप से रूप, गुण एवं लीलाओं का स्मरण नहीं करना पड़ेगा। जो निरपराध होकर नाम ग्रहण करते हैं, उसके प्रभाव से उनकी स्थूल और सूक्ष्म शरीर के प्रति आत्मबुद्धि नष्ट होने पर उनका सिद्धस्वरूप उदित हो जाता है। सिद्धस्वरूप उदित होने पर नाम करते-करते कृष्णरूप के अप्राकृतत्व की उपलब्धि होती है। कृष्ण का नाम ही जीव के शुद्धस्वरूप को उदित कराकर कृष्णरूप के प्रति आकर्षित कराते हैं। भगवान का नाम ही जीव के हृदय में उसके गुणों को उदित कराकर कृष्ण गुणों के प्रति आकर्षित करते हैं। कृष्णनाम जीव की स्वक्रियाओं को उत्पन्न कराकर कृष्ण की लीलाओं के प्रति आकर्षित करते हैं।

नाम की सेवा कहने से नाम उच्चारण करने वाले के अपने प्रयोजनीय अनुष्ठान आदि को भी समझना चाहिए।

भगवान का नाम करते-करते नाम की कृपा से ही यह सब होगा। शास्त्रों के श्रवण, पठन एवं अनुशीलन के द्वारा नाम में रुचि उत्पन्न होती हैं।

प्रश्न 110—क्या करने से हमारा कल्याण होगा?

उत्तर—भगवान में अपनी रति मति लगाकर उन्हें पुकारने पर ही हमारा समस्त कल्याण होता है। आप ऐसा ही करेंगे, आपसे मेरा यही निवेदन है। सांसारिक उन्नति, सुविधा एवं असुविधाओं को देने वाले एकमात्र भगवान ही हैं। हम उनके पाल्य एवं शरणागत हैं। अतः वे हमारे लिए जैसी भी व्यवस्था करें, उसे प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करना ही हमारा कर्त्तव्य है।

प्रश्न 111—क्या गुरुसेवा के बिना हमारे कल्याण की कोई आशा नहीं है?

उत्तर—नहीं। जो मंगल प्रदान करने के लिए आये हैं, जो साक्षात् मंगल की मूर्ति हैं, मंगल प्रदान करने वाले एवं जीवों के एकमात्र आश्रय ऐसे श्रीगुरुदेव की सेवा किए बिना आत्मकल्याण कैसे सम्भव है? श्रीगुरुदेव तो वैकुण्ठ से भगवान की प्रेरणा से आये हुए महापुरुष हैं। अतः उनका आश्रय एवं उनकी सेवा के बिना अर्थात् उनके संग के बिना कोई व्यक्ति वैकुण्ठ किस प्रकार जा सकता है? गुरु की कृपा ही समस्त प्रकार के कल्याणों की मूल है। उनकी कृपा प्राप्त करने के लिए हमने ऐसी कौन-सी चेष्टा की है जिससे हमें उनकी कृपा प्राप्त हो? इसीलिए मैं अपने समस्त प्रकार के अहंकारों का परित्यागकर श्रीगुरुदेव के चरणकमलों मैं प्रणाम कर

रहा हूँ। “मैं द्रष्टा हूँ, मैं भोक्ता हूँ”—ऐसे अहंकारों का त्याग करने का नाम ही नमस्कार है। इसीलिए मन्त्र में नमः शब्द है।

मैं कर्ता हूँ,—ऐसी दुर्बुद्धि श्रीगुरुदेव की कृपा से दूर होती है। मैं भगवान का सेवक हूँ—ऐसा शुद्ध अभिमान श्रीगुरुदेव की कृपा से ही आता है। जागतिक अभिमान, अहंकार, अविचार, कुविचार इत्यादि उनकी कृपा एवं उनकी सेवा से ही दूर होते हैं। मैं सालों-साल तक श्रीगुरुदेव की पूजा करने का पक्षपाती नहीं था। श्रीगुरुदेव की सेवा ही मेरा एकमात्र कर्त्तव्य है, इसे मैं श्रीगुरुदेव की कृपा से ही समझ पाया। अन्धे व्यक्ति का अनुगमन न कर नेत्रयुक्त श्रीगुरुदेव का अनुगमन अर्थात् उनकी पूजा करनी चाहिए। श्रीगुरुदेव ही मेरे एकमात्र बन्धु, आत्मीय और रक्षक हैं, इसे मैं उनकी कृपा से ही समझ पाया। श्रीगुरुदेव के चरणकमलों का दर्शन करने के पश्चात् ही मेरी ऐसी बुद्धि हुई कि श्रीगुरुदेव की सेवा के अतिरिक्त मेरे लिए और कोई कर्त्तव्य नहीं है। श्रीगुरुदेव भगवान के अति प्रिय सेवक हैं। जब भगवान के निज जन उन श्रीगुरुदेव ने मुझे अहंकार से बचाने के लिए कृपापूर्वक नन्दनन्दन श्रीकृष्ण की सेवा की शिक्षा दी, तभी मैं जान पाया कि कृष्ण की इन्द्रियों को तृप्त करने के अतिरिक्त जीवों के लिए कोई अन्य कर्त्तव्य नहीं हैं। नन्दनन्दन ही जीवों के एकमात्र उपास्य हैं। वे ही जीवों के जीवनस्वरूप, भूषण स्वरूप एवं सर्वस्व हैं। श्रीगुरुदेव नन्दनन्दन के अत्यन्त प्रिय हैं।

ऐसे श्रीगुरुदेव की सेवा मेरे जैसा अयोग्य व्यक्ति तन, मन एवं वचन के द्वारा करने में असमर्थ है। परन्तु फिर भी दया एवं स्नेह के सागर श्रीगुरुदेव अपने गुणों द्वारा कृपापूर्वक मेरे हृदय में शक्ति सञ्चार करते हैं। वे मेरी ओर प्रीति पूर्वक दृष्टिपात करते हैं। ऐसी उनकी दया है! यदि मैं किसी प्रकार उनकी कृपा प्राप्त कर पाऊँ, यदि मेरी ऐसी सद्बुद्धि हो जाय कि इस जगत में उनके अतिरिक्त मेरा अपना कोई नहीं है, तभी उनकी अहैतुकी हार्दिक कृपा के द्वारा ही उनकी सेवा करने की योग्यता प्राप्त हो सकती है। वे सेवा के द्वारा ही सन्तुष्ट होते हैं। जिस दिन वे अपने हृदय से कृपा करेंगे, जिस दिन वे मुझ पर सुप्रसन्न होंगे, उसी दिन मैं समझ पाऊँगा कि वास्तव में मेरा परम मंगल किसमें है। तभी मुझे गुरु एवं कृष्ण की सेवा से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं जान पड़ेगा। उस समय कृष्ण की सेवा के अतिरिक्त कुछ भी अच्छा नहीं लगेगा। इसीलिए मैं श्रीगुरुचरणों में प्रार्थना करता हूँ कि वे मुझे ऐसी सामर्थ्य प्रदान करें कि मैं उनकी कृपा शक्ति ग्रहण कर सकूँ। श्रीगुरुदेव से मैं ऐसे मंगल की ही अभिलाषा करता हूँ। श्रीगुरुदेव की दया की तुलना नहीं हो सकती। औरों की तो बात ही क्या स्वयं ईश्वरों के भी ईश्वर श्रीकृष्ण उनके प्रेम के वशीभूत हैं। परन्तु मेरे जैसा दुर्भागा व्यक्ति ऐसे अपूर्व महिमा सम्पन्न श्रीगुरुदेव की महिमा नहीं जान पाता। परन्तु फिर भी उन्होंने मुझ पर जो दया की है, उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करने की सामर्थ्य भी मुझमें नहीं है। उनकी ऐसी अहैतुकी दया का

मूल्य चुकाना मेरे लिए कदापि सम्भव नहीं है।

प्रश्न 112—निष्कपट गुरुसेवक की चित्तवृत्ति कैसी होनी चाहिए?

उत्तर—निष्कपट शिष्य गुरु-देवात्मा (देवतात्मा) होंगे। वे गुरु को देवता अर्थात् ईश्वर और आत्मा अर्थात् अपनी आत्मा के समान प्रिय जानेंगे। सर्वदा ही शिष्य के अन्दर यह अभिमान होगा कि श्रीगुरुदेव मेरे नित्य प्रभु हैं एवं मैं उनका नित्य सेवक हूँ। गुरु की सेवा ही उसका जीवन, भूषण एवं सत्ता होगी। वे गुरु के अतिरिक्त और किसी को नहीं जानते। सोते समय, स्वप्न में, भोजन के समय, भजन के समय सदैव गुरु की ही चिन्ता करते रहते हैं, यही गुरु का आनुगत्य है। इसीलिए वे जानते हैं कि कृष्ण के परम प्रिय श्रीगुरुदेव ईश्वर वस्तु हैं—स्वतन्त्र वस्तु हैं। श्रीगुरुदेव मेरे जैसे अयोग्य व्यक्ति की सेवा ग्रहण करें या न करें परन्तु मैं निष्कपट रूप से तन, मन, वचन से उनकी ऐकान्तिकी सेवा करने के लिए तैयार रहूँगा। यदि वे मुझको ठोकर मारेंगे, तभी मैं अपनी अयोग्यता समझ पाऊँगा। किन्तु श्रीगुरुदेव सत्य हैं मुझे सावधान रहना चाहिए कि कहीं क्षणभंगुर विषयभोग मुझे एक क्षण के लिए भी श्रीगुरुदेव की सेवा से वास्तव सत्य श्रीगुरुदेव से विमुख न कर पायें। मेरी एकमात्र यही प्रार्थना है कि श्रीगुरुदेव कृपापूर्वक मेरी सेवा ग्रहण करें। वे ऐसी कृपा करें कि मेरा किसी प्रकार का भी दुःसंग न हो ओर मैं उनकी सेवा से च्युत न होऊँ। यद्यपि मैं सर्वदा अयोग्य हूँ, परन्तु मुझे पूर्ण विश्वास है कि वे अयोग्य व्यक्तियों पर अधिक दया करते हैं। यही मेरा भरोसा है। मैं श्रीगुरुदेव की अहैतुकी दया प्राप्ति की आशा से उनकी सेवा में अधिक से अधिक लोभयुक्त होऊँ।

प्रश्न 113—हरिनाम क्या वस्तु हैं?

उत्तर—हरिनाम जड़ पदार्थ नहीं हे, और न ही कोई काल्पनिक वस्तु हैं। वह दृश्य-वस्तु नहीं है और न ही दृश्य जगत की कोई वस्तु हैं। हरिनाम भगवान का अवतार हैं, वे साक्षात् भगवान ही हैं। नाम ही हरि हैं, एवं हरि ही नाम हैं। हरिनाम अप्राकृत एवं परिपूर्ण वस्तु हैं। वे स्वयं सर्वशक्तिमान भगवान हैं। श्रीनाम can take initiative. अप्राकृत नाम ही स्वयं नामी हैं। हरिनाम स्वतः प्रकाशित वस्तु हैं। अप्राकृत नाम ही स्वयं नामी हैं, अप्राकृत नाम ही रूपी, अप्राकृत नाम ही गुणी, अप्राकृत नाम ही परिकरवान एवं अप्राकृत नाम लीलामय है। अप्राकृत नाम ही रूप, गुण, परिकर वैशिष्ट्य एवं लीला भी हैं। नाम एवं नामी में कोई भेद नहीं है। अप्राकृत नाम शब्दब्रह्म हैं। जो नाम हैं, कृष्ण हैं। इस कलियुग में कृष्ण ही नाम के रूप में अवतरित हुए है। विभु-चेतन हरिनाम स्वयं बोल भी सकते हैं। जो हरिनाम करते हैं, वे भी चेतन वस्तु हैं। वे बोल रहे हैं—हे हरिनाम! मैं आपका दास हूँ, मैंने आपका आनुगत्य स्वीकार किया है।

जो हरिनाम करते हैं, वे हरिनाम प्रभु के सेवक हैं। साक्षात् कृष्ण

ही कृष्णनाम के रूप में जगत में आये हैं। इसीलिए हम पूर्ण रूप से हरिनाम का ही आश्रय ग्रहण करेंगे। इसके अतिरिक्त ओर किसी के पास नहीं जायेंगे।

प्रश्न 114—क्या आत्मकल्याण के लिए हरिनाम संकीर्तन के अतिरिक्त कोई सरल, सहज एवं श्रेष्ठ उपाय नहीं हैं?

उत्तर—आत्मकल्याण के लिए हरिनाम को छोड़कर अन्य उपाय नहीं हैं। इस संसार में जिस व्यक्ति की किसी के धर्म-कर्म में रुचि नहीं हैं वहीं हरिनाम करते हैं। हरिनाम संकीर्तन ही एकमात्र उपाय है। इस हरिनाम के सिवा वैकुण्ठ जाने का अन्य कोई उपाय नहीं है। हरिनाम संकीर्तन ही एकमात्र लक्ष्य—कृष्णप्रेम को प्राप्त करने का उपाय है। हरिनाम-संकीर्तन के अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं है। नाम संकीर्तन के माध्यम से जो लक्ष्य (कृष्णप्रेम) प्राप्त होता है, उसके अतिरिक्त जीवों के लिए और कोई श्रेष्ठ लक्ष्य हो ही नहीं सकता। इसीलिए शास्त्र कह रहे हैं—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

अर्थात् इस कलियुग में आत्मकल्याण के लिए हरिनाम के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है, नहीं है, नहीं है। इस श्लोक में हरिनाम को ही निश्चित उपाय बताने के लिए ही तीन बार "नहीं हैं" शब्द का प्रयोग हुआ है।

कलौ तु नाममात्रेण पूज्यते भगवान हरिः।

(नारायण संहिता)

अर्थात् कलियुग में लोगों को भगवान हरि की पूजा केवल उनके पवित्र नामों का जप करके करनी चाहिए।

प्रश्न 115—मनुष्य जीवन का क्या कर्त्तव्य है?

उत्तर—विचार दो प्रकार का होता है—श्रेयः पर (आत्मकल्याण सम्बन्धी विचार) एवं प्रेयः पर (जागतिक विषय सम्बन्धी विचार)। मनुष्य को श्रेयः के लिए ही चेष्टा करनी चाहिए। प्रेयः (जागतिक वस्तुएँ) तो अति सहजता से ही प्राप्त हो जाती हैं। परन्तु श्रेयः अर्थात् भक्ति अत्यन्त दुर्लभ है। श्रीमद्भागवत में कहा गया है—अनेक जन्मोंके पश्चात् मनुष्य जन्म प्राप्त होता है। अतः यह अत्यन्त दुर्लभ है। यद्यपि यह मनुष्यजन्म अनित्य है, परन्तु इसके द्वारा भक्ति प्राप्त की जा सकती है। **अपनी स्वतन्त्रता का परित्याग करके भगवान का आश्रय ग्रहणकर निष्कपट रूप से भजन करने पर एक जन्म में ही भगवान को प्राप्त किया जा सकता है।** इसलिए मृत्यु आने से पूर्व ही एक क्षण भी विलम्ब किये बिना निरन्तर आत्मकल्याण के लिए चेष्टा परायण होना चाहिए। विषय-भोग तो सभी जन्मों में प्राप्त होंगे ही किन्तु भक्ति अन्य किसी जन्म में सम्भव नहीं है।

हमारा कोई भी जन्म क्यों न हो, विषय–भोग तो प्रत्येक जन्म में मिलेंगे ही। मनुष्य–जन्म न होने पर भी अन्यान्य जन्मों में भी विषय भोग अवश्य ही मिलेंगे।

मनुष्य–जन्म में केवल श्रेयः अर्थात् आत्मकल्याण हेतु ही चेष्टा करनी चाहिए। प्रेयः अर्थात् जागतिक विषय भोगों के लिए पशु भी चेष्टा करते ही हैं। मनुष्य की यही विशेषता है कि वह भगवान की कथाओं को सुन सकता है, उसका आचरण एवं आलोचना भी कर सकता है। किन्तु पशु परस्पर आलोचना नहीं कर सकते। अतः श्रेयः केवल मनुष्य जन्म में ही प्राप्त किया जा सकता है। मनुष्य जन्म प्राप्त कर भी यदि आत्मकल्याण के सम्बन्ध में विचार न किया जाय, तो निम्न श्रेणी के पशु–पक्षियों के साथ मनुष्यजन्म की समानता हो जाती है। किन्तु हमारे पास विवेक है। देवजन्म प्राप्त होने पर भी हम भोगों में ही है, किन्तु प्राकृत होने कारण वे सुख भी नित्य स्थायी नहीं होते—**"क्षीणे पुण्ये मर्त्त्यलोकं विशन्ति"** अर्थात् पुण्य समाप्त होने पर जीव को स्वर्गलोक से इस मृत्युलोक में आना पड़ता है। यद्यपि हमें यह मनुष्य जीवन बहुत ही कष्ट से प्राप्त होता है। परन्तु ऐसा दुर्लभ जन्म प्राप्त करके भी हमें इस जगत में ही अनेक प्रकार के कार्य दिखाई देते हैं और उन कर्तव्यों को पूरा करते–करते सारा जीवन ही नष्ट हो जाता है। इस जगत में आकर हम मालिक बन जाते है ओर भगवान की सेवा न कर दूसरों से सेवा ग्रहण करते हैं। विभिन्न प्रकार की कामनाओं के वशीभूत होकर विभिन्न प्रकार के देवी–देवताओं की सेवा करने है लग जाते हैं।

जीव, धर्म के लिए सूर्य, अर्थ के लिए गणेश, काम के लिए शक्ति एवं मोक्ष हेतु शिव की आराधना करता है। परन्तु वास्तव में यह पूजा नहीं है। बल्कि अपने आराध्य को अपनी कामनाओं की पूर्ति करने वाला सेवक मानना हो जाता है। सेवा किसे कहते हैं? यह जानना अत्यन्त आवश्यक है। केवल अपने आराध्य को आनन्द प्रदान करने का नाम ही सेवा है। श्रीहरि ही सबके मूल (fountain head) हैं। हम सभी उनके दास हैं। उनकी सेवा करने मे ही सभी की सेवा करना हो जाता है—**"यथा तरोर्मूल निषेचनेन"** (भागवत) यह श्लोक ही इसका प्रमाण है। यह श्लोक बतलाता है —जिस प्रकार वृक्ष की जड़ में जल देने से वृक्ष की शाखाएँ, पत्ते इत्यादि हरे–भरे हो जाते हैं, उसी प्रकार भगवान की सेवा करने से सभी सन्तुष्ट हो जाते हैं। जो वास्तव में हमारा कल्याण कर सकते हैं, उनके विषय में न जानने के कारण ही हमारे मार्ग में कल्याण कर सकते हैं, उनके विषय में न जानने के कारण ही हमारे मार्ग में अनेक प्रकार की असुविधाएँ आ रही हैं। इन असुविधाओं या कष्टों से पार होने के लिए एक मात्र मनुष्य जीवन ही उपयुक्त है। यदि हम थोड़ा धैर्य धारणकर साधुओं के मुख से भगवान की कथाओं का श्रवण करें, तो इस जगत के रूप, रस, गन्ध स्पर्श, शब्द के द्वारा, मछुआरे की बंड़शी में लगे काँटे के प्रति आकृष्ट मछली की

भाँति आकर्षित नहीं होंगे। तब हम भगवान के नित्य आकर्षण द्वारा आकृष्ट होंगे। जो सांसारिक कर्तव्यों को पूरा करने में ही लगे हुए हैं, वे भगवान की सेवा को कभी नहीं समझ सकते। किन्तु भगवान की कथाओं की ही आलोचना करनी चाहिए, परन्तु वह आलोचना कैसे होगी?—साधुसंग के प्रभाव से।

साधु का संग अवश्य करना चाहिए। सांसारिक लोगों का संग करने से हम अनेक प्रकार की विपत्तियों में पड़ जाएंगे। यदि हम सचमुच में ही साधुओं का संग करें, तो हमें भगवान की शक्ति का अनुभव अवश्य होगा। साधुसंग का अभाव होते ही माया हमें अनेक प्रकार का कष्ट देगी।

यदि हम भगवान के शरणापन्न हो जायें, तभी हमारा जड़ अहंकार दूर हो सकता है। इसके अतिरिक्त जड़ अहंकार से मुक्ति का अन्य कोई उपाय नहीं है। भगवान ही एकमात्र पूर्णवस्तु एवं जीवों के एकमात्र उपास्य या आश्रय हैं। यदि उनकी सेवा प्राप्त करनी हो, तो उसका उपाय यही है कि उनके विषय में जानकारी प्रदान करने वाले भगवान के प्रकाशविग्रह श्रीगुरुदेव के चरणों का ही आश्रय ग्रहण करना होगा। श्रीगुरुदेव से ही अप्राकृत शब्द-ब्रह्म वैकुण्ठ नाम (हरिनाम) प्राप्त होता है। उस नाम के आभास से ही संसार से मुक्ति हो जाती है। भगवान का नाम ग्रहण करनेवाले को पुनः मातृगर्भ में नहीं आना पड़ता। इस प्रकार आत्मकल्याण-जनक बातें एक बार सुनने से समझ में न आयें तो पुनः-पुनः सुननी चाहिए। जो शब्द-ब्रह्म एवं श्रुति-वेद इत्यादि का आश्रय ग्रहण नहीं करता, उसे पुनः इस संसार में आना पड़ता है।

जो भगवान का दर्शन करा सकते हैं, जो स्वयं चौबीस घन्टे भगवान की सेवा में नियुक्त रहते हैं, उनसे ही भगवान की कथाओं को सुनना चाहिए। मठ-मन्दिर भगवान का सेवागार है अथवा शिक्षागार है। भगवान के भक्त भक्तिरूपी नेत्रों के द्वारा श्यामसुन्दर-कृष्ण का अपने हृदय में दर्शन करते हैं, ऐसे वैष्णवों की कृपा होने पर हम भी भगवान के दर्शन अपने हृदय में कर सकते हैं। इन जड़ नेत्रों के द्वारा भगवान का दर्शन करने की चेष्टा करने पर वे इस जड़ जगत की ही कोई वस्तु दिखाई पड़ेंगे। यदि इन सांसारिक विषयों में ही हम मुग्ध हो जायें तो कदापि भगवान को नहीं जान सकते। अतः हमें बिल्कुल भी समय नष्ट न कर सम्पूर्ण रूप से समस्त सुखों के आधार स्वरूप भगवान का ही स्मरण एवं उनका ही अनुशीलन करना चाहिए। इसके फलस्वरूप भगवान के दर्शन में आने वाली बाधाएँ जैसे अनर्थ, अपराध इत्यादि दूर हो जाते हैं। कृष्ण की आराधना के द्वारा ही हमारा परम मंगल होगा। जिस क्षण हम समझ जायेंगे कि भगवान ही मेरे प्रभु हैं, उसी क्षण हमारे समस्त दुःख-कष्ट दूर हो जायेंगे, तथा हमारे लिए सुविधा हो जायेगी। भगवान की कथाओं का श्रवण एवं कीर्तन करने से ही वास्तविक कल्याण होगा। भगवान को भूलकर कर्ता अभिमान से जो कुछ भी कर्म किये जाते हैं, उनसे अमंगल ही होता है।

वर्तमान समय में हम अपने स्वरूप अर्थात् भगवत् दासत्व से पतित हो गए है तथा हमारा सम्बन्ध जड़ जगत से हो गया है। अतः हमें भगवान के साथ सम्बन्ध जोडकर अपने नित्यस्वभाव भगवान की सेवा को प्रकट करना होगा। हम सदैव के लिए इस जगत में नहीं रह सकते, जो भगवान की सेवा प्राप्त करना चाहते हैं, उनके हृदय में जागतिक किसी भी वस्तु की कामना नहीं रहती। वे अकिञ्चन होते हैं। जगत के कल्याण के लिए एवं स्वयं अपने कल्याण के लिए भी निष्किञ्चन होकर भगवान की सेवा करनी चाहिए।

प्रश्न 116—किसके मुख से हरिकथा सुननी चाहिए?

उत्तर—श्रीगुरुदेव के मुखकमल से ही भगवान की कथाएँ सुननी चाहिए और भगवान की प्रसन्नता के लिए श्रद्धालु एवं सुनने के इच्छुक लोगों को वे कथाएँ सुनानी भी चाहिए। परन्तु अश्रद्धालु को कदापि हरिकथाएँ नहीं सुनानी चाहिए।

गुरु से श्रवण करना चाहिए—पाषण्डी से नहीं। यदि भूल से किसी ने एक अवैष्णव को गुरु बना लिया हो, तो ज्ञान होने पर उसका परित्यागकर पुनः किसी वैष्णव गुरु की कृपा प्राप्त करनी चाहिए।

प्रश्न 117—भगवान को प्राप्त करने का उपाय क्या है?

उत्तर—भगवान की सेवा ही जीव का नित्य धर्म है। भगवान की सेवा त्यागकर जीव इस संसार में जिन वस्तुओं के पीछे भाग रहा है, वे सभी वस्तुएँ उत्पत्ति, स्थिति ओर विनाश के अधीन हैं। अतः असत् वस्तु में सत्य बुद्धि तथा अनित्य वस्तुओं में नित्य बुद्धि के कारण ही जीव को इस अनित्य संसार में सुख के स्थान पर दुःख ही दुःख प्राप्त होते हैं। परन्तु जब मनुष्य का विवेक जागृत हो जाता है, जागतिक वस्तुओं का परिणाम देखकर या सुनकर वह चतुर हो जाता है, तब वह साधुओं का संग करता है, और संग के प्रभाव से अशोक, अभय एवं अमृत के आधारस्वरुप श्रीभगवान की सेवा में अपने जीवन को लगा देता है। श्रीराधागोविन्द की सेवा ही जीवों का चरम साध्य है। श्रीराधागोविन्द की उस सेवाश्री को प्रदान करने के लिए ही स्वयं श्रीराधागोविन्द-मिलित-तनु श्रीगौरसुन्दर इस प्रपञ्च जगत में अवतीर्ण हुए थे। केवल श्रीहरिनाम के आश्रय द्वारा ही वह कृपा प्राप्त होती हें। इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है।

प्रश्न 118—क्या शरणागत व्यक्ति का मंगल अवश्य ही होता है?

उत्तर—अवश्य ही होगा। जिस क्षण हम शरणागत होंगे उसी क्षण मंगल हमारे हाथ में आ जाएगा। मूल मालिक पर निर्भर रहने से ही मंगल होता है। हम जब तक भगवान के शरणागत नहीं हो जाते, तब तक समझना चाहिए कि हमने अपने अमंगल को ही आलिंगन किया हुआ है।

कृष्ण हमें इस जगत में क्लेश प्रदान करने के लिए नहीं लाये हैं। हमने अपनी स्वतन्त्रता का गलत उपयोग कर स्वयं कर्त्ताभिमान के द्वारा अपने लिए अमंगल एवं क्लेशों को वरण कर लिया है। भगवान की मंगलमयी वाणी में श्रद्धा होने पर हमारा कर्त्ता अभिमान सदैव के लिए दूर हो जाएगा। उस समय हम कर्मवीर बनने के लिए लालायित नहीं होंगे, बल्कि उनकी वाणी श्रवण करने के लिए उनके श्रीचरणों में शरणागत हो जाएंगे।

प्रश्न 119—शरणागतका क्या लक्षण है?

उत्तर—कर्त्तापन का त्याग करना ही शरणागति का लक्षण है। कर्त्तापन का परित्याग करके कृष्ण को ही अपने पालक के रूप में ग्रहण करना शरणागति का स्वरूप लक्षण है (अर्थात् मैं अपना पालन-पोषण एवं रक्षा स्वयं ही करता हूँ, ऐसा अभिमान त्यागकर कृष्ण ही मेरे एकमात्र पालक एवं रक्षक हैं ऐसा विश्वास ही शरणागत का लक्षण है।) किसी पर आश्रित व्यक्ति को अपने कर्तृत्व (अर्थात् अपने पालन-पोषण इत्यादि की चेष्टा) की आवश्यकता नहीं रहती। यदि हमारे हृदय में ऐसा विचार आ जाए कि मैं वृषभानुनन्दिनी श्रीमती राधिकाजी का पाल्य हो जाऊं, तो किसी प्रकार का तुच्छ जागतिक अभिमान हमारे हृदय पर अपना अधिकार नहीं जमा सकता। मैं केवल कृष्ण पर ही आश्रित हूँ, यदि ऐसा अभिमान हमारे हृदय में नहीं आया तो समझना चाहिए कि अभी शरणागति नहीं हुई है। जिसके फलस्वरूप कर्त्ता अभिमान, पिता (पालक) अभिमान रहना स्वाभाविक है।

प्रश्न 120—क्या देवजन्म की अपेक्षा मनुष्य जन्म श्रेष्ठ है?

उत्तर—अवश्य ही। देवजन्म से मनुष्य जन्म ही श्रेष्ठ है। इसीलिए देवता भी मनुष्य जन्म प्राप्त करने की आकांक्षा करते हैं। देवता स्वर्ग के भोगों में इतने प्रमत्त रहते हैं, कि उन्हें यह विचार करने का समय ही नहीं है कि भविष्य में उनके भोग के लिए दुःखों का भण्डार भी भरा हुआ है। वे थोड़े समय के लिए प्राप्त सुख के नशे में ही डूबे रहते हैं। देवता तो वे कुछ समय के लिए है, कुछ समय पश्चात पुण्यों के क्षय होने पर उन्हें पुनः इस मर्त्य जगत में आना पडता है—**"क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।"**

अन्यान्य प्राणियों की तुलना में मनुष्य को भविष्य की चिन्ता अधिक रहती है। मनुष्यों की अपेक्षा देवता अधिक सुख और स्वतन्त्रतापूर्वक रहते हैं, वे अधिक दिनों तक भोग कर सकते हैं, किन्तु उन देवताओं को अन्त में असुविधा की प्राप्ति होती है। देवता जन्म, ऐश्वर्य, सौन्दर्य एवं विद्या इत्यादि चार प्रकार के मदों से घिरे रहते हैं, तथा उनको ही बढ़ाने के लिए वे चेष्टारत रहते हैं। हम लोग देवताओं को इसलिए बड़ा मानते हैं, क्योंकि उनके पास मनुष्य की तुलना में अधिक भोग सामग्रियाँ हैं। परन्तु

उनके पास मनुष्य जन्म मे एक विशेष लाभ यह है कि वे देवताओं की भाँति भोगों में न डुबे होने के कारण अपने आत्मकल्याण की चिन्ता कर सकते हैं। मनुष्य भी यदि देवताओं का अनुकरण करते हुए जन्म, ऐश्वर्य, इत्यादि के मद में डूबा रहे, तो वह भी अपने कल्याण की चिन्ता नहीं कर सकता। देवताओं की तुलना में मनुष्यों को भगवान का भजन एवं साधुओं का संग करने का अधिक सुयोग प्राप्त है। इसलिए देव-जन्म से मनुष्य-जन्म श्रेष्ठ है।

मनुष्य जीवन में क्षण-क्षण में प्राप्त होने वाले कष्ट हमें जागतिक वस्तुओं एवं जागतिक क्षण भंगुरता का अनुभव कराते रहते हैं। किन्तु स्वर्ग सुख के कुछ दिव्य होने के कारण देवताओं को जगत की क्षण भंगुरता का अनुभव नहीं हो पाता। अतः ऐसा मनुष्य जन्म प्राप्त करने के कारण हमारे पास समय है कि हम अपना आत्म कल्याण कर लें। इस मनुष्य जन्म में ही हम जान सकते हैं कि किसमें हमारा मंगल है, किसमें अमंगल।

प्रश्न 121—हमारा सर्वश्रेष्ठ उपकारी बन्धु कौन है?

उत्तर—जो हरिनाम के द्वारा जीव को आकर्षण करते हैं, उनके समान वास्तविक बन्धु एवं उपकारी जगत में कोई नहीं है। यदि कर्ण जैसे करोड़ों दाता भी मिलकर दान करें, तो भी उनका दान हरिनाम का प्रचार करने वाले वैष्णवों की दयालुता के सामने बहुत ही सामान्य एवं तिरस्कृत है।

प्रश्न 122—कृपा या शक्ति कैसे प्राप्त होती है?

उत्तर—ऐकान्तिकरूप से श्रीगुरुदेव के चरणकमलों का आश्रय ग्रहण करने पर ही गुरु की कृपा से जीव के हृदय में कृष्ण की शक्ति सञ्चरित होती है। वही कृपाशक्ति सेवा के द्वारा पुष्ट होकर क्रमशः अनर्थों को ध्वंस करती रहती है। किन्तु सेवा बन्दकर देने पर या सेवा के प्रति उदासीन होने पर पुनः अनर्थ बढ़ने लगते हैं, जिसके फलस्वरूप कृष्ण की शक्ति क्रमशः दूर होने लगती है।

जैसे किसी बीज को भूमि में रोपणकर अच्छी प्रकार से जल से सिंचाई करने पर उससे अंकुर फूटता है। जब तक वह अंकुर मजबूत होकर वृक्ष नहीं बन जाता, तब तक उसकी बाहरी किसी भी प्रकार के आक्रमण से रक्षा की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार गुरुदेव से प्राप्त कृष्णशक्ति को भजन के द्वारा क्रमशः बढ़ाने की आवश्यकता होती है।

प्रश्न 123—भक्ति एवं अभक्ति किसे कहते हैं?

उत्तर—इन्द्रियज्ञान को त्याग न करने का नाम ही अभक्ति है। यह तीन-तीन धाराओं में प्रवाहित होती है—अन्याभिलाष, कर्म एवं ज्ञान। अपनी सुविधा एवं दूसरे की सुविधा (इन्द्रियतर्पण) करने का नाम कर्म है। सुविधा

भी नहीं करूँगा तथा असुविधा भी नहीं करूँगा, निरपेक्ष रहूँगा इसी का नाम ज्ञान है। इन्द्रियज्ञान तथा निर्विशेष ज्ञान, दोनों का परित्यागकर अधोक्षज वस्तु श्रीहरि का इन्द्रियतोषण ही भक्ति है। जब तक भोग एवं मोक्ष के हाथ से मुक्त नहीं हो जाते, तब तक भक्ति की भूमिका भी आरम्भ नहीं हो सकती।

प्रश्न 124—दुर्बलचित्त एवं अपराधी में क्या भेद है?

उत्तर—दुर्बलचित्त एवं अपराधी एक ही श्रेणी में नहीं आते। यद्यपि चित्त की दुर्बलता ही कुछ समय पश्चात् अपराध में बदल सकती है तथापि हृदय की दुर्बलता की अवस्था में कामनारूप पाप एवं अपराधों के प्रति घृणा रहती है। परन्तु दुर्बलचित्त व्यक्ति पाप एवं अपराध को अत्यन्त अन्यायपूर्ण जानकर भी उसको परित्याग करने में असमर्थ होता है, जबकि अपराधी व्यक्ति इन सबको हानिकारक या अन्यायपूर्ण मानता ही नहीं है। वह सोचता है कि वह जो कुछ करता है या जो समझता है वही ठीक है, बल्कि साधुओं से ही समझने में भूल हुई है। यदि दुर्बलचित्त व्यक्ति कामनाओं को आदर एवं रुचि पूर्वक ग्रहण नहीं करके उनसे घृणा करते-करते उनका परित्याग कर देते हैं, तो समझना चाहिए कि उन पर कृष्ण की कृपा हो रही है। नहीं तो कृष्ण की कृपा से वञ्चित होना पड़ेगा।

प्रश्न 125—हरिजन किसे कहते हैं?

उत्तर—आजकल हरिजन शब्द का अपव्यवहार हो रहा है। वास्तव में जो अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो चुके हैं, ऐसे अप्राकृत भगवान के भक्त ही हरिजन हैं। किसी भी कूल में जन्म ग्रहण क्यों न करें अथवा उनका अपना किसी भी प्रकार का बाह्य परिचय क्यों न हो, यदि वे सद्गुरु के श्रीचरणों का आश्रय ग्रहण कर हरिभजन करते हैं, तो वे ही हरिजन हैं। हरि की सेवा के अतिरिक्त वे किसी भी प्रकार की कामना के वशीभूत होकर कोई कार्य नहीं करते। जो अवैष्णव हैं, जिनको अपने स्वरूप के विषय में ज्ञान नहीं हुआ है, उन्हें हरिजन कहना अनुचित एवं शास्त्रविरुद्ध है। यद्यपि स्वरूपतः सभी नित्य हरिजन हैं, किन्तु मायाबद्ध अवस्था में उनका ऐसा परिचय प्रकट नहीं है। यदि उनका स्वरूप प्रकट हो जाए और वे हरिसेवा करें, तो उन्हें हरिजन कहने में 'कोई आपत्ति नहीं है। जिस प्रकार धान के भीतर चावल रहता है किन्तु धान चावल नहीं होता, धान का छिलका दूर होने पर ही उसे चावल कहते हैं, उसी प्रकार जीवमात्र ही हरिदास या हरिजन है, यह सत्य है, किन्तु जीव जब हरिसेवा मैं नियुक्त हो जाता है, तभी हरिजन कहलाने योग्य है, उससे पहले नहीं।

प्रश्न 126—कुछ लोग कहते हैं कि सभी एक समान हैं, क्या यह ठीक है?

उत्तर—सत् ओर असत्, भक्त और अभक्त, पापी और पुण्यवान,

शिक्षित और अशिक्षित, देवता और भगवान, सती ओर असती, धर्म और अधर्म, प्रकाश, और अन्धकार, आत्मधर्म और अनात्मधर्म तथा भक्ति और अभक्ति—ये सब एक समान कैसे हो सकते हैं? जिन्हें आन्तरिक वस्तु का ज्ञान नहीं है, जिन्होंने वस्तु के तत्त्व सम्बन्धी सूक्ष्मातिसूक्ष्म विचारों में प्रवेश नहीं किया है, उनके लिए सब कुछ ठीक है। एक अज्ञ बालक कह सकता है कि उसने जो कुछ टेढ़ी-मेढ़ी रेखाएँ खींची हैं, उनका अर्थ क्यों नहीं होगा? यदि ज्ञानी व्यक्ति के लिखे हुए का अर्थ हो सकता है, तो उसके द्वारा लिखे हुए का अर्थ भी अवश्य होना चाहिए। अज्ञ बालक के द्वारा लिखे हुए निरर्थक एवं विज्ञ व्यक्ति द्वारा लिखे हुए अर्थ सूचक शब्दों में भेद दिखाने वाले पर मूर्ख व्यक्ति, साम्प्रदायिकता तथा पक्षपात का आरोप लगाते हैं। जिन्हें भगवान के विषय में हरिकथा या वास्तविक सिद्धान्तों के विषय में आन्तरिक ज्ञान नहीं है, ऐसे अतत्त्वज्ञ व्यक्तियों को यदि वास्तविक तथ्य बताया जाता है तो वे कहेंगे—वास्तविक सिद्धान्त बताना ही साम्प्रदायिकता है और असत् सिद्धान्त का खण्डन करना ही निन्दा है। उनका कहना है कि जब हम कुछ भी नहीं जानते, तो सबको समान मानना ही उचित है। इससे सब हमारे ऊपर प्रसन्न रहेंगे और किसी के साथ हमारा मनमुटाव भी नहीं रहेगा। किन्तु सत्य और असत्य और भक्ति और अभक्ति कभी एक समान नहीं हो सकते। जिनमें भक्ति नहीं है, जो भगवान की सेवा की आवश्यकता नहीं समझते, जो अपना यथार्थ आत्मकल्याण नहीं चाहते, जो विषय भोग एवं प्रतिष्ठा के लिए ही लालायित रहते हैं, ऐसे लोगों के लिए ही भक्ति एवं अभक्ति समान होती है।

प्रश्न 127—शुद्धभक्त गुरु को कैसे देखेंगे?

उत्तर—साधारण लोग गुरु को एक रूप में देखते हैं और अन्तरंग भक्त अन्य रूप में देखते हैं। अन्तरंग या शुद्धभक्त गुरु को अपना परम आत्मीय, कृष्ण का परमप्रिय, प्रीति के एकमात्र आधार, नित्यसेव्य, अपना जीवनस्वरूप एवं सर्वस्व मानते हैं। श्रीगुरुदेव कृष्ण के परमप्रिय तथा उनसे अभिन्न हैं। श्रीगुरुदेव का दास हुए बिना कृष्ण का दास बनने की लेशमात्र भी सम्भावना नहीं है। जो गुरु के दास्य या उनकी सेवा में नियुक्त रहते हैं, वे ही शुद्धभक्त या वैष्णव हैं।

पापयुक्त नेत्रों से गुरुदेव का दर्शन नहीं होता है। मनुष्य दर्शन—गुरु-दर्शन नहीं है, अर्थात् गुरु को मनुष्य रूप में देखना, उससे नरक जाना पड़ता है। गुरु लघु नहीं हैं, या मनुष्य नहीं हैं। वे तो ईश्वर हैं अर्थात् भगवान के निजजन हैं। वे महापुरुष, महाजन, नामाचार्य—कृष्ण प्रेष्ठप्रिय हैं।

प्रश्न 128—हमारे विघ्ननाश और अभीष्ट पूर्ण क्यों नहीं हो रहे हैं?

उत्तर—भगवान से अभिन्न श्रीगुरुदेव के प्रति हमारी मर्त्त्यबुद्धि और उससे उत्पन्न दोषदृष्टि दूर नहीं हुई है। इसलिए हम उनके श्रीचरणों में

निष्कपट रूप से आत्मसमर्पण नहीं कर पा रहे हैं। वेदवाक्य, भगवान के वाक्य एवं गीता के वचनों का उल्लंघन अर्थात् उनपर विश्वास न कर गुरु के प्रति मनुष्य बुद्धि, वैष्णवों के प्रति जाति बुद्धि तथा भगवान के विग्रह के प्रति पत्थर, लकडी, मिट्टी आदि की बुद्धि करने के कारण ही हमारी ऐसी दुर्गति हो रही है।

प्रश्न 129—जीव का क्या कर्त्तव्य है?

उत्तर—व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण ही कामदेव हैं अर्थात् सभी के एकमात्र नित्य सेव्य हैं। उनकी सेवा ही जीव का नित्य धर्म या कर्त्तव्य है। भगवान की सेवा को भूल कर जीव कभी 'मैं खुदा हूँ' की बुद्धि से 'अहं ब्रह्मास्मि' की भ्रान्त धारणा करके निर्विशेष-ज्ञानी होता है, कभी भोगी होकर वर्णाश्रम-धर्म का पालन करने में व्यस्त हो पड़ता है ओर कभी स्त्री मनोरंजन करना ही उसका प्रधान कर्म हो जाता है। इसीलिए कहते हैं,—हे जीवगण! आप दम्भ, स्त्रीपूजा ओर स्त्रैण-भाव (स्त्रीरत) का परित्याग करो। श्रीमती राधारानी के दास्य और श्रीरूपमञ्जरी के कैंकर्य में आत्मनियोग करो। ब्रजगोपियों के आनुगत्य में प्रतिक्षण कृष्णसेवा में नियुक्त हो जाओ।

प्रश्न 130—श्रीनाम करते समय जगत की चिन्ता क्यों आती है?

उत्तर—गुरुदेव के आनुगत्य में श्रीकृष्णनाम ग्रहण करने से मंगल होता है। श्रीनाम करते समय जागतिक चिन्ता उदय होती है, इस कारण से श्रीनाम-ग्रहण करने में शिथिलता न करें। श्रीनाम ग्रहण करते-करते क्रमशः यह समस्त वृथा चिन्ता दूर हो जाएगी। जागतिक चिन्ता को दूर करने में ही व्यस्त नहीं होंवे क्योंकि श्रीनाम ग्रहण से पहले उसका फल मिलने की सम्भावना नहीं है (अर्थात् श्रीनाम ग्रहण किए बिना जागतिक चिन्ता दूर होने की सम्भावना नहीं है)। कृष्णनाम में अत्यन्त प्रीति उदित होने से जागतिक चिन्ता के प्रति लोभ कम हो जाएगा। कृष्णनाम में अत्यन्त आग्रह न होने से जागतिक चिन्ता किस प्रकार दूर होगी? काय-मन-वाक्य से श्रीनाम की सेवा करने से ही श्रीनामी अपना परममंगल-स्वरूप प्रदर्शन करेंगे।

प्रश्न 131—किस प्रकार सहज में ही भगवान को पाया जा सकता है?

उत्तर—जो भगवान की सेवा करते हैं, ऐसे भक्तों के संग से ही भगवान की भक्ति प्राप्त होती है। भक्तों ने भगवान की सेवा को ही अपने जीवन का सार बना लिया है। उन्होंने भगवान के नाम-रूप-गुण-लीला और उनकी कथाओं को ही अपना जीवन सर्वस्व बना लिया है। इसीलिए वे सदैव उन विषयों की आलोचना करते रहते हैं। जो केवल भगवान के सुख के लिए ही उनकी सेवा करते हैं, उनका संग करने पर ही मंगल होगा। भक्त लोग अपने सुख के लिए भगवान की सेवा का ढोंग नहीं करते। वे

इहकालिक सुख (जीवित अवस्था में जागतिक सुख) एवं परकालिक सुख (मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग आदि लोकों का सुख), शरीर एवं गृह सम्बन्धी सुख, यहाँ तक कि वे मुक्ति भी नहीं चाहते। वे सदैव ही अपने हृदय रूपी भवन में भावपूर्वक भगवान की सेवा करते रहते हैं। उनकी वह सेवा प्रवृत्ति किसी बाधा को नहीं मानती (अर्थात् बड़ी से बड़ी बाधा उपस्थित होने पर भी ऐसे भक्त विचलित नहीं होते, उनकी भगवान की सेवा सुचारू रूप में चलती रहती है)। भक्तों की सदैव ही भगवान ओर उनके भक्तों से प्रीति रहती है। अपने शरीर, स्त्री-पुत्र, कन्या, घर तथा घर में रहने वाले आत्मीय स्वजन या बन्धु-बान्धवों से उनकी प्रीति नहीं होती। भक्त केवल भगवान के ही शरणागत होते हैं। भक्तों ने भगवान को ही अपने जीवन का सार बना लिया है। यद्यपि भगवान सार वस्तु के भी सार हैं, परन्तु अपने ऐसे प्रेमी भक्तों के प्रेम मे बंधकर उन्होंने भी उन्हें अपना सार बना लिया है। ग्रन्थ भागवत और भक्त भागवत की सेवा द्वारा ही सहज रूप में भगवान को पाया जा सकता है। श्रीमद्भागवत में कहा गया है—

नष्ट प्रायेष्वभद्रेषु नित्यं भागवत सेवया।
भगवत्युत्तमश्लोके भक्तिर्भवति नैष्ठिकी॥

(नित्य प्रति भागवत की सेवा अर्थात् भागवत का श्रवण एवं कीर्तन करने से समस्त प्रकार के अनर्थ नष्ट हो जाते हैं और उत्तम श्लोक भगवान में नैष्ठिकी भक्ति उदित हो जाती हैं।)

प्रश्न 132—श्रीमन्दिर के निर्माण में अर्थदान (धनदान) क्या मंगलकर है?

उत्तर—बहुत धन खर्च करके अपने भोग-विलास के लिए घर बनाने की अपेक्षा उस धन के द्वारा भगवान की सेवा, गुरु-वैष्णवों की सेवा या भगवान का मन्दिर बनाने का सुविचार या सुबुद्धि कितनी प्रशंसनीय एवं महामंगलकर है, इसका वर्णन भाषा के द्वारा नहीं किया जा सकता।

प्रश्न 133—श्रीरघुनाथ दास गोस्वामी प्रभु कौन हैं?

उत्तर—यद्यपि श्रीरघुनाथ दास गोस्वामी प्रभु श्रीचैतन्य महाप्रभु के दास थे, परन्तु उनका प्रबल अभिमान था, वे श्रीरूपानुग हैं, स्वरूप दामोदर एवं श्रीरूप गोस्वामी के दास हैं, वे स्वरुप के रघु हैं, महाप्रभु के सेवक के सेवक हैं। स्वरूप-रूप के परमप्रिय हैं। श्रीरघुनाथ श्रीराधागोविन्द के अतिप्रिय सेवक हैं। श्रीरूप-मञ्जरी के आनुगत्य में वे श्रीराधागोविन्द की सेवा करते हैं। श्रीरघुनाथ दास का चैतन्य दास अभिमान रहने पर भी श्रीस्वरूप दामोदर और श्रीरूप गोस्वामी का दास अभिमान अधिक प्रबल था। क्या श्रीवार्षभानवी (श्रीमती राधिका) जी की सेवा का वर्णन किसी ने ऐसे विस्तार रूप में किया है?

प्रश्न 134—गृहस्थ भक्त का विचार कैसा होना चाहिए?

उत्तर—गृहस्थ भक्त को याद रखना चाहिए कि जिस घर में वह रहता है, वह उसका नहीं, बल्कि कृष्ण का है। वह तो उस घर में एक पालतू कुत्ते की तरह ही है। **"भाल-मन्द नाहि जानि सेवामात्र करि। तोमार संसारे आमि विषय प्रहरी।"** अर्थात् 'हे प्रभो! अच्छा-बुरा क्या है, मैं कुछ नहीं जानता। मैं तो केवल सेवा करता हूँ। मैं तो आपके संसार में आपकी सम्पत्ति का प्रहरी मात्र हूँ।' श्रीकृष्ण को ही घर का मालिक जानकर सब प्रकार से उनकी सेवा करनी चाहिए। गृहव्रत लोगों की (जिन्होंने अपने घर को ही अपनी धुरी बना रखा है अर्थात् जो कुछ भी करते हैं अपने घर और पत्नी-पुत्र-कन्या आदि के लिए करते हैं।) श्रीभगवान एवं श्रीगुरु के प्रति पूज्य बुद्धि नहीं होती। वे श्रीगुरुदेव एवं श्रीविग्रह को अन्य जड़ वस्तुओं की भाँति सामान्य ही मानते हैं। जो गृहव्रत का त्यागकर अपना सर्वस्व कृष्ण की सेवा में अर्पण कर देते हैं, वे ही कृष्णनाम कर सकते हैं। गृह के प्रति आसक्ति छोड़े बिना, सर्वस्व कृष्ण की सेवा में अर्पण किये बिना तथा गुरु एवं कृष्ण का दास बने बिना कृष्णनाम नहीं हो सकता।

प्रश्न 135—हमें श्रद्धा कहाँ करनी चाहिए?

उत्तर—हमें जगत में सब बातों को छोड़कर गुरुदेव की बातों पर ही पूर्णस्वरूप से विश्वास करना चाहिए। क्योंकि गुरु की कृपा के बिना अन्य किसी भी उपाय से हमारे अनर्थ दूर नहीं हो सकते एवं हमारा मंगल नहीं हो सकता। इसलिए हमें श्रीगुरुदेव को ही भगवान के पास जाने का एकमात्र उपाय या अपना एकमात्र नित्यबान्धव समझना होगा। श्रद्धा शब्द का अर्थ है—Full confidence in the words of Sri Gurudeb. We have got no reliance in the words of the so-called gurus or religious reformers or pretenders. गुरु-वैष्णवों का संग करने से ही अमंगल दूर हो जाएंगे और शुद्धभक्ति प्राप्त होगी। इसलिए We should have implicit reliance in Sri Gurudeb in order to approach and serve the Absolute Person.

A sadhu is he who will relieve me from all puzzling doubts. A sadhu will give me the highest good. I should make friends with such a real Guru who is really wishing my highest good. If perchance we meet a real Guru, then we must be saved and must be able to reach our goal. He will always supply and enrich us with transcendental knowledge and service.

प्रश्न 136—अनुसरण एवं अनुकरण में क्या वैशिष्ट्य है?

उत्तर—जिस प्रकार आनुगत्य एवं तोषामोद (चापलूसी) एक नहीं है, उसी प्रकार अनुसरण एवं अनुकरण भी एक नहीं है। अनेक लोग अनुकरण कार्य को अनुसरण मानकर भ्रमित होते हैं। यहाँ पर दो बातें हैं—अनुकरण

व अनुसरण। नाटक मण्डली का नारद सज्जित होना अनुकरण है (अर्थात् किसी नाटक में नारदजी का वेष धारणकर उनके जैसा अभिनय करना, उनका अनुकरण है) परन्तु श्रीनारदजी के द्वारा प्रदर्शित एवं आचरित भक्तिपथ पर चलना उनका अनुसरण है) कृत्रिमरूप में नकल करने का नाम अनुकरण एवं महाजनों के द्वारा प्रदर्शित पथ पर चलना अनुसरण है।

हम सोचते हैं कि हम अनुसरण कर रहे हैं, किन्तु वास्तव में हम महाजनों का अनुकरण ही कर रहे हैं, अनुसरण का तात्पर्य आचरण से है। अनुकरण (imitation) विकृत (मूलवस्तु का) प्रतिफलन मात्र है। अनुकरण एवं अनुसरण बाह्यरूप से एक समान दीखते हैं। जैसे मेकि सोना (chemical gold) एवं शुद्ध सोना बाहर से देखने पर एक जैसे दिखाई देते हैं। अनुकरण का दूसरा नाम ढोंग भी है। हमारे हृदय में विप्रलिप्सा नामक एक वृत्ति है, जिसके द्वारा हम दूसरों की वञ्चनाकर उनसे प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए ऐसा ढोंग या अनुकरण करते हैं। श्रौतपथ का मात्र अनुकरण करने से ही अनुसरण नहीं हो जाता। अनुकरण के द्वारा अनुसरण न होने के कारण उसका कोई मूल्य नहीं है।

प्रश्न 137—भगवान का नाम एवं भगवान की कथा तो वैकुण्ठ की वस्तु हैं। हम इस जगत में रहकर उन्हें कैसे प्राप्त कर सकते हैं?

उत्तर—भगवान का नाम भगवान के राज्य (धाम) से कृपापूर्वक इस जगत में अवतीर्ण होते हैं। अर्चावतार (श्री विग्रह), श्रीनामावतार (भगवान का नाम) और श्रीगुरुदेवावतार (श्रीगुरुदेव) भगवान की कथाओं को वहनकर इस जगत में लाते हैं। ये तीनों ही अभिन्न हैं। श्रीअर्चावतार तथा श्रीनामावतार विषयजातीय भगवान हैं, ओर श्रीगुरुदेवावतार आश्रयजातीय भगवान हैं। अर्थात् श्रीगुरुदेव या आचार्य का आश्रय ग्रहणकर हम विषय-विग्रह कृष्ण को प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु यहाँ पर एक विशेष बात यह है कि श्रीमती राधिकाजी आश्रय जातीय विग्रह हैं। उनका नाम एवं उनका विग्रह आश्रय जातीय भगवद् वस्तु हैं। भगवन्नाम एव भगवान में कोई भेद नहीं है, किन्तु जड़वस्तु के नाम एवं जड़ वस्तु में भेद होता हैं।

प्रश्न 138—यीशुख्रीष्ट जगद्गुरु हैं। उनके उपदेश ही तो हमारे मंगल के लिए पर्याप्त हैं, तो फिर हमें महान्त गुरु की क्या आवश्यकता है?

उत्तर—हम जगद्गुरु एवं महान्त गुरु—दोनों को ही स्वीकार करते हैं। केवल जगद्गुरु-वाद को स्वीकार करने से, उसमें अनेक प्रकार के अनर्थ आ जाते हैं। महात्मा यीशु को जगद्गुरु स्वीकार कर यदि कोई वर्तमान समय में उनका अनुसरण करना चाहे एवं महान्त गुरु की अनावश्यकता समझे, तो वह ख्रीष्ट के विचारों का कितना अनुसरण कर पाएगा, यह विषय विचारणीय है। महान्त गुरु परम्परा ही भगवान या जगद्गुरु आचार्यों की बातों को कृपापूर्वक हम तक पहुँचाते हैं। उसी प्रकार महान्त गुरु भगवान के

श्रीचरण कमलों से निकलने वाली शुद्धभक्ति गंगा की धारा को हमारे पास तक लाकर हमारे हाथों एवं सिर पर प्रदान करते हैं। किन्तु यदि ऐसी गंगा की धारा नहीं होती, तो मेरे जैसा साधारण बलहीन एवं अर्थहीन व्यक्ति हिमालय पर चढ़कर उस जलधारा को स्पर्श नहीं कर पाता। इसके अतिरिक्त हिमालय से निकलने वाले स्रोत के अवरुद्ध हो जाने पर अनेक समय दूषित जलधारा को ही हिमालय की पवित्र जलधारा के रूप में स्वीकार करना पड़ता। महात्मा यीशु ने दो हजार वर्ष पूर्व जिन कथाओं का प्रचार किया, वे कथायें यदि गुरुपरम्परा के माध्यम से अभी तक प्रवाहित होकर किसी व्यक्ति विशेष तक न पहुँच पायें और केवल पुस्तकों एवं उपदेशों में से स्वयं ही उन्हें खोजना पड़े, तो हो सकता है कि महात्मा यीशु के द्वारा प्रचारित सिद्धान्तों के विकृत स्वरूप को ही यहाँ तक कि उनमें विरुद्ध सिद्धान्तों को ही उनका अपना सिद्धान्त मानने की भ्रान्ति फैल सकती है।

महान्तगुरु भी जगद्‌गुरु हैं। वे पूर्व जगद्‌गुरु के ही प्रकाश है। वे जगद्‌गुरु के ही विचारों को गुरु परम्परा के माध्यम से प्राप्तकर कृपापूर्वक हम तक पहुँचाते हैं। किसी भी प्रकार से वे वञ्चक नहीं हैं। वे मेरे तोषामदकारी नहीं हैं। वे मुझसे किसी भी प्रकार की जागतिक वस्तु नहीं चाहते। वे निरपेक्ष सत्य की बातों को ही वहन करते हैं।

प्रश्न 139—जीव तो तटस्था शक्ति है। अतः वह सेवा भी कर सकता है, तथा भोग भी। भोगबीज भी उसमें अव्यक्तरूप में रहता है। क्या सिद्धि के पश्चात् भी जीव के हृदय में वह भोगबीज या भोगवासना रहती है?

उत्तर—नहीं। शास्त्र कहते हैं—

जगत् डुबिल, जीवेर हैल बीजनाश।

(चैतन्य-चरितामृत आदि-लीला 7/27)

भगवान की तटस्था नामक जीव शक्ति में कृष्णोन्मुखी चेष्टा के साथ ही कृष्ण विमुखता रूप भोगवासना बीज भी अव्यक्तरूप में रहता है। काल के प्रवाह से संसार-वृक्ष से वह वासना-बीज सिञ्चित होकर नाना प्रकार के भोगबन्धन के द्वारा बद्धजीव को रात-दिन तीन प्रकार के तापों (आधिदैविक, आधिभौतिक, आध्यात्मिक) से क्लेश प्रदान कर रहा है।

जिस प्रकार मिट्टी में बोये गये बीज के जल में डूबने पर उससे अंकुर निकलने की सम्भावना नहीं रहती है, उसी प्रकार भगवत् सेवासमूह की अतल वारि में कृष्ण सेवा के अतिरिक्त अन्यान्य भोगवासना बीज प्रेम की बाढ़ में डूबकर नष्ट हो जाता है तथा उससे वासना अंकुर के उद्गम की सम्भावना भी नहीं रहती।

प्रश्न 140—अर्थ का सद्व्यवहार कैसे होता है?

उत्तर—हमलोग सत्कर्मी या कुकर्मी नहीं हैं। हम अकैतव (निष्कपट)

हरि भक्तों के पादुका वहनकारी हैं तथा 'कीर्तनीयः सदा हरिः' मन्त्र में दीक्षित हैं। ग्रन्थों के प्रकाशन में, हरिकथा प्रचार में और हरि-गुरु एवं वैष्णवों की सेवा में अर्थ (धन) का प्रयोग करना ही अर्थ का सद्व्यवहार है। यह अक्षय फलप्रद है।

प्रश्न 141—क्या परनिन्दा ग्रहणीय (परित्यज्य) है?

उत्तर—दूसरों के स्वभाव या कर्मों की निन्दा तथा प्रशंसा नहीं करनी चाहिए, भागवत में ऐसा कहा गया है। श्रीचैतन्य भागवत में भी ऐसा ही कहा गया है—**'परचर्चकेर गति नाहि कोन काले।'** (अर्थात् दूसरों की चर्चा करने वाले की कभी भी सद्गति नहीं हो सकती।) परनिन्दा करने वाले को नरक की प्राप्ति होती है। दूसरे के स्वभाव की निन्दा न कर हमें स्वयं को शोधन करना होगा। श्रीगुरुदेव के द्वारा किया जाने वाला शासन या समालोचना जगत के मंगल के लिए होती है। हमारे लिए ऐसे हंगामा वाले कार्यों में न जाना ही उचित है।

प्रश्न 142—क्या संसार में सुख है?

उत्तर—वास्तव में संसार में सुख है ही नहीं। संसार नाना प्रकार की अनहोनियों को घटाकर अशान्ति उत्पन्न कर देता है। उसमें अच्छा, बुरा या आंशिक पवित्रता रहने पर भी अनेक समय नाना प्रकार की अशान्ति उत्पन्न कर देता है। इसीलिए श्रीमद्भागवत में **"तत्तेऽनुकम्पा"** श्लोक प्रकाशित किया गया है। श्रीगोलोक धाम में इस संसार की जैसी यथेच्छाचारिता नहीं है। स्थान या कालविशेष से जो समस्त असुविधाएँ उपस्थित होती हैं, उन्हें सहन करने के अतिरिक्त उपाय नहीं है।

प्रश्न 143—कौन-कौन सी वस्तुएँ भजन में सहायक होती हैं?

उत्तर—भगवद्-विमुख प्रपञ्च जगत तो दुःखमय परीक्षा का स्थल है। सहिष्णुता, दीनता तथा दूसरों की प्रशंसा इत्यादि हरिभजन में परम सहायक हैं।

प्रश्न 144—भगवान के विषय की रक्षा करना भी क्या सेवा है?

उत्तर—हम सभी का मूल प्रयोजन भगवान एवं भक्तों की सेवा ही है। उनकी सेवा करने के लिए हमें साधारण विषयी-व्यक्ति की भांति जिन समस्त कार्यों को करना पड़ता है, वे भजन के प्रतिकूल नहीं हैं, बल्कि वे कार्य ही भगवद् भजन के अनुकूल हैं। सांसारिक भोगों से विरक्त होने के लिए गृहस्थ अथवा संन्यास—दोनों के लिए ही कृष्णभजन करना अति आवश्यक है।

प्रश्न 145—वैष्णवों का क्या कर्त्तव्य है?

उत्तर—वैष्णवों के आचरण के विषय में श्रीमन्महाप्रभु ने कहा है कि गृहस्थ वैष्णवों को धन सञ्चय तथा विरक्त वैष्णवों को भिक्षा के द्वारा अपने-अपने कार्यों को पूर्ण (जीवन निर्वाह) करते हुए भगवद् भजन अथवा कृष्णानुशीलन करना चाहिए। दोनों को ही भोजन एव शरीर को ढकने के भगवान की कृपा पर ही निर्भर रहना चाहिए। इसलिए भगवान के ऊपर सभी को निर्भर रहना आवश्यक है। जिस प्रकार शरीर की रक्षा के लिए समस्त इन्द्रियाँ कार्य करती हैं, किन्तु यदि कोई एक अंग उदासीनता प्रकाशित कर शरीर की रक्षा करना बन्द कर दे, तो अवश्य ही शरीर कम या अधिक क्षतिग्रस्त हो जाएगा—इसे जानकर अपना मंगल चाहने वाले सभी लोगों को गुरु एवं वैष्णवों की सेवा, जीवों के प्रति दया एव कृष्णनाम कीर्तन करना चाहिए।

प्रश्न 146—क्या हरिनाम एवं श्रीहरि एक ही वस्तु हैं?

उत्तर—श्रीहरिनाम एवं भगवान श्रीहरि दोनों पृथक् वस्तुएँ नहीं हैं, एक ही वस्तु हैं। श्रीनाम एवं नामी अभिन्न हैं। श्रीनामप्रभु की कृपा से रूप, गुण, परिकर वैशिष्ट्य ओर लीलाएँ नाम में ही प्रस्फुटित हो जाती हैं तथा जीव को मायिक जगत की अनुभूति से अलग कर देती हैं। उस समय जड़बद्ध जीव की भगवान के अतिरिक्त अन्यान्य चिन्ताएँ एवं मन की चञ्चलता दूर हो जाती हैं। जैसे नाम की कृपा हो, श्रीनाम के निकट वैसी ही प्रार्थना करनी चाहिए। अष्टकालीय लीलाओं का स्मरण इत्यादि अनर्थयुक्त अवस्था में करणीय नहीं है। कीर्तन के द्वारा ही श्रवण होता है एवं स्मरण का भी सुयोग प्राप्त होता है, ऐसी अवस्था में ही अष्टकालीन सेवा की अनुभूति सम्भव है। कृत्रिमरूप से अष्टकालीन लीलाओं का स्मरण नहीं करना चाहिए।

प्रश्न 147—क्या भक्तमात्र ही पूजनीय है? भक्तों का रक्षक कौन है?

उत्तर—धनहीन भक्तों पर यदि कोई धनी या सम्भ्रान्त व्यक्ति अत्याचार करता है, तो श्रीनृसिंहदेव उसकी रक्षा करते हैं। सामाजिक उच्च या नीच जातियों में से जो व्यक्ति भगवद् भक्ति का आश्रय ग्रहण करते हैं, वे ही हमारे पारमार्थिक सम्मान एवं पूजा के उचित पात्र हैं। वैष्णवों के प्रति जातिबुद्धि अपराध है।

प्रश्न 148—वैकुण्ठ एवं जगत में क्या भेद है?

उत्तर—चिज्जगत (वैकुण्ठ जगत) परम उपादेय मूल बिम्बसदृश तथा अचित् जगत उसका प्रतिबिम्ब है। इन दोनों में भेद यह है कि चित् जगत में जो समस्त इन्द्रियाँ कार्य करती हैं, उनमें किसी प्रकार की अचित् गुणों की बाधा नहीं होती। चित् गुण समूह इस अचित् जगत के गुणों के समान

होने पर भी अचित् जगत, चिज्जगत का ही विकृत प्रतिफलित छायामात्र है। अचित् जगत (जड़ जगत) में कालक्षोभ्य विषय, आनन्दबोध और नाना प्रकार के अभाव आदि छाया की भाँति देश, काल एवं पात्र को विजड़ित किये हुए हैं। चिन्मय जगत नित्य अर्थात् अचित् वर्जित, सर्वशुभ और सुखमय विचित्रतापूर्ण, सर्वसद्गुण मण्डित एवं अनुक्षण नित्य आनन्दप्रद है। अचित् जगत में नाना प्रकार की हेयता, अनुपादेयता एवं अभाव आदि हमारे प्रयोजन में व्याघात पहुँचाते हैं। हम सभी अपने दैनन्दिन जीवन में इसका अनुभव करते हैं।

प्रश्न 149—नास्तिक का क्या परिणाम होता है?

उत्तर—श्रीभगवान हमारे मंगल के लिए ही सब कुछ प्रस्तुत कर देते हैं—मैं इस पर विश्वास करता हूँ। नास्तिक लोग जगत में कभी प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं कर सकते। कुछ दिन वे उछलकूद करने के पश्चात् अन्त में भगवान के दण्ड से ठण्डे हो जाते हैं। वैष्णवों के प्रति विद्वेष के फलानुसार नास्तिक लोगों का ऐहिक एवं पारत्रिक (लोक एवं परलोक में) अमंगल ही होता है।

प्रश्न 150—काम के हाथ से बचने का क्या उपाय है?

उत्तर—स्वसुख वाञ्छा का दुसरा नाम ही काम है। पूर्ण वस्तु की सेवा करना ही अपूर्ण अंश का एकमात्र कार्य है। भगवान पूर्ण चिद् वस्तु है, जीव उनका अंश है, अतः अंशी-भगवान की सेवा करना ही अंश का कर्त्तव्य है। भगवान की सेवा से विमुखता ही हमें अनेक प्रकार के कष्टों में डुबा देती है। इन क्लेशों से मुक्ति प्राप्त करनी हो, तो मात्सर्यहीन कृष्णभक्तों की सेवा ही एकमात्र औषधि है। इस जगत में कृष्णभक्त ही कृष्णप्रेम के विरोधी काम से हमारी रक्षा कर सकते हैं। अप्राकृत कामदेव श्रीकृष्ण की सेवा में उन्मुखता के अभाव में ही हमारे हृदय में प्राकृत कामवृत्ति जागृत हो जाती है। काम में आंशिक रूप में व्याघात पड़ने पर क्रोध की उत्पत्ति होती है। वर्तमान अवस्था मे काम को मेरी व्याधिग्रस्त इन्द्रियों का तोषण करने वाला जानना चाहिए। अप्राकृत कामदेव का इन्द्रिय-तर्पण करना ही व्याधिविमुक्त (मायामुक्त) आत्मा (भक्त) की एकमात्र वृत्ति है। कृष्ण के श्रीचरणों में शरणागति या कृष्णसेवा ही जड कामबीज का (वासना का) विनाशक है।

प्रश्न 151—क्या संशयात्मा का कल्याण नहीं होता है?

उत्तर—नहीं। संशयात्मा (जिसके हृदय में शास्त्रों या भगवान के प्रति सन्देह उत्पन्न हो जाता है) का विनाश हो जाता है, अर्थात् वह अवश्य ही संसार-दशा को प्राप्त होता है। साधु-गुरु के निकट न जाकर, केवल अनुकरण आदि की सहायता से अनुसरण पद्धति का त्याग करना उचित

नहीं। हमारे पास Return journey के टिकट के लिए कोई धन नहीं है। क्योंकि हम कृष्ण के अतिरिक्त अन्य सभी वस्तुओं को केवल कृष्ण के भोग की वस्तु ही मानते हैं। इसके विपरीत विचार वाले लोगों के हृदय में ही दुर्भाग्य के कारण सन्देह की उत्पत्ति, प्रणिपात, परिप्रश्न एवं सेवा का अभाव होता है।

प्रश्न 152—क्या गौरांगदेव कृष्ण ही हैं?

उत्तर—श्रीगौरसुन्दर कृष्ण से सम्पूर्ण रूप में अभिन्न होने के कारण बारह रस उनमें पूर्ण रूप में विद्यमान हैं। दोनों में भेद मात्र इतना ही है कि कृष्ण सम्भोग विचारमयी तथा गौरसुन्दर विप्रलम्भ विचारयुक्त हैं। श्रीकृष्ण सेव्य मूर्ति तथा श्रीगौरांगदेव सेवक की चेष्टा के अभिनयकारी हैं। श्रीराधा गोविन्द मिलित तनु औदार्य विग्रह ब्रजेन्द्रनन्दन ही श्रीकृष्णचैतन्यदेव हैं। श्रीगदाधर पण्डित उन्हीं की आश्रय जातीय शक्ति हैं। जिस समय हम श्रीगौरसुन्दर को Predominating Half मानकर उनकी Transcendental Entity आलोचना करें, तो उस समय उनकी शक्ति श्रीगदाधर को Predominated Transcendental Entity के रूप में औदार्य प्रकोष्ठ को लक्ष्य करते हैं।

प्रश्न 153—क्या भक्तसेवा और भगवान की सेवा अपने हाथों से करनी चाहिए?

उत्तर—दूसरों के द्वारा भगवान का अर्चन एवं भगवान की रसोई बनवाना शोभनीय नहीं है। परन्तु किसी प्रकार विपत्ति के समय आतुर अवस्था में किसी दिन इसे स्वीकार किया जा सकता है। यदि हम आलस्य के कारण कृष्ण को न खिलाएँ ओर अपने खाने एवं रहने को ही अपने जीवन का उद्देश्य बना लें तो यह निश्चित है कि भगवान की सेवा के प्रति हमारी श्रद्धा कम हो जायेगी। मठ के सेवकों को विचारों के विपरीत आचरण करना उचित नहीं है। **"द्रव्यम् मूल्येन शुद्धयति"**—मूल्य के द्वारा द्रव्य शुद्ध हो जाते हैं। यह विचार असमर्थ लोगों के लिए है। यदि समर्थ व्यक्ति इस विचार को ग्रहण करता है, तो यह उसके आलस्य का परिचय होगा। हमारी समस्त प्रकार की चेष्टाएँ कृष्ण के लिए ही होनी चाहिए। अन्यथा हमारा व्यवहारिक जीवन Godless विचार पूर्ण हो जाएगा। God-loving होने पर ही ऐसी इच्छा होगी कि कृष्ण के लिए रसोई बनाकर उन्हें भोग लगाकर उनका प्रसाद भक्तों को दिया जाय, अन्यथा नहीं। कोई भी दिन (कभी भी) भक्त-सेवा से विमुख होना नहीं चाहिए।

प्रश्न 154—क्या श्राद्ध में पितृ पुरुषों को प्रसाद देना ही उचित है?

उत्तर—श्राद्ध के अवसर पर परलोकगत हरिनाम परायण व्यक्ति को महाप्रसाद दिया जाता है। भगवत् प्रसाद के अतिरिक्त अन्य पिण्ड देना

बुद्धिमत्ता का परिचय नहीं है। जो हरिनाम करते हैं उनके लिए कर्म फल भोग विचार नहीं है। किन्तु उनके आत्मीय स्वजनों का कर्तव्य है कि श्राद्ध के कुछ अवसर पर भगवान को भोग निवेदन कर, उनके कुछ प्रसाद द्वारा परलोकगत आत्मा का मंगल करने में सहायता करें। इस अवसर पर भगवान के प्रसाद द्वारा भक्तों को तृप्त करना एवं हरिनाम संकीर्तन करना परम कर्त्तव्य है।

प्रश्न 155—मायातीत कृष्ण के साथ मायाबद्ध हमारे जैसी जीवों का सम्बन्ध स्थापन कैसे सम्भव है?

उत्तर—कृष्ण के साथ हमारा सम्बन्ध असम्भव होने पर भी करुणामय श्रीकृष्ण कृपापूर्वक हमारी अधीनता (वश) में आने की व्यवस्था कर देते हैं। सूर्य अति बृहत् होने पर भी बृहत्त्व हमारे इन्द्रिय ज्ञान की अधीनता में दिखाई देता है, जो कि भूताकाश नामक एक पदार्थ के द्वारा सम्भव हो रहा है। उसी प्रकार जीव के भक्ति रूप चिद्–आकाश कृष्ण के सान्निध्य एवं कृष्ण की सेवा के लिए कृष्ण के साथ सम्बन्ध स्थापित करने में सहायता कर रहा है।

सूर्य बृहत् एवं बहुत दूर रहने पर भी सूर्य के प्रकाश की सहायता से ही उसका दर्शन सम्भव होता है। उसी प्रकार श्रीकृष्ण की कृपा–आलोक से ही अर्थात् कृष्ण कृपा की मूर्ति श्रीगुरुदेव की सहायता या उनका आश्रय ग्रहण करने पर ही हम कृष्ण के साथ सम्बन्ध स्थापन का सुयोग पा सकते हैं। भगवान की कृपा से सब कुछ सम्भव है।

प्रश्न 156—श्रीकृष्ण नाम भजन का क्या फल है?

उत्तर—श्रीकृष्णनाम ग्रहण करते समय श्रीकृष्ण का अनुशीलन होता रहता है एवं कर्मफल भोग और मुक्ति की इच्छा भी दूर होती रहती है। श्रीनाम के प्रभाव से जीव के समस्त प्रकार के अनर्थ क्रमशः दूर हो जाते हैं।

कृष्णनाम स्वयं कृष्ण ही हैं। केवल स्वयं नहीं, स्वयं रूप ही नाम हैं। हमारे दुर्भाग्य को दूर करने के लिए नाम भजन के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है। कृष्ण नामानन्द ही जड़ानन्द अर्थात् विषय भोगों की चिन्ताओं से बचाता है। मैं कृष्णभोग्य हूँ, मेरे नित्य स्वरूप से प्रसन्न होकर कृष्ण जब मुझे आकर्षण करेंगे, तभी मैं उनके रूप पर मुग्ध होऊँगा।

प्रश्न 157—क्या चण्डीदास शुद्ध भक्त हैं?

उत्तर—निश्चय ही। शुद्धभक्त होने के कारण ही भगवान श्रीगौरांगदेव चण्डीदास के कीर्त्तनों को श्रवण करते थे। चण्डीदास की चित्तवृत्ति सेवक की चित्तवृत्ति थी। Servitor (सेवक) सर्वदा ही अपने को कृष्ण प्रेष्ठानुग मानते हैं। चण्डीदास एवं रामी के बीच किसी प्रकार का निकृष्ट व्यवहार

नहीं था। चण्डीदास प्रेमी भक्त थे, उनके हृदय में अपने सुख की कामना लेशमात्र भी नहीं थी। जड़ भोगी लोग उनके भावों को न समझ पाने के कारण ही उनके चरणों में अपराधी होकर नरकगामी हो रहे हैं। आध्यक्षिक या Sensuous विचार में जो चण्डीदास है, वह शुद्ध भक्त चण्डीदास नहीं है। आध्यक्षिक लोग अप्राकृत चण्डीदास को पहचान पाने में असमर्थ हैं।

अप्राकृत देह में मधुर रस के सेवकों की जड़भोगी पुरुष-आकृति नहीं होती। प्राकृत स्त्री देह तथा अप्राकृत भक्ति राज्य के चिदानन्द देह में आकाश पाताल का अन्तर है। यही शुद्ध भक्त चण्डीदास का मत है।

चण्डीदास और विद्यापति के पाठकगण यदि अपने मायिक प्रभु अभिमान या प्रभुत्व स्पृहा (मालिक होने की इच्छा) का परित्याग कर कृष्णदास्य के सम्बन्ध में नियुक्त होवें, तो उनमें कृष्ण को भोग्यज्ञान के स्थान पर सम्पूर्ण रूप से उन्हें प्रभु जानने का चिद्बोध का प्रकाश होता है एवं विद्यापति और चण्डीदास की कृष्ण कथाओं का वास्तविक अर्थ समझकर विद्यापति को लक्ष्मी के उपपति या चण्डीदास को रामी के उपपति के रूप में स्थापन पूर्वक अपनी ऐसी धारणा के द्वारा वञ्चित नहीं होते हैं।

प्रश्न 158—क्या अपनी चिकित्सा स्वयं करना उचित है?

उत्तर—सांसारिक लोगों का इतना कष्ट देखकर भी जो संसार में प्रविष्ट होते हैं, उनकी सुख की इच्छा अति प्रबल न होने पर इस प्रकार विपदग्रस्त होने की इच्छा नहीं हो सकती है। प्रत्येक जन्म में माता-पिता पाये जा सकते हैं, परन्तु सभी जन्मों में मंगलप्रद उपदेश प्राप्त नहीं हो सकते हैं। अपनी चिकित्सा स्वयं न कर सद्वैद्य का आश्रय करने से ही मंगल होता है।

प्रश्न 159—क्या सेवा अवश्य ही करनी चाहिए?

उत्तर—हमारा कर्त्तव्य है कि हम गुरु एवं कृष्ण की सेवा निरन्तर करते जायें। आगे कृष्ण की जैसी इच्छा होगी वैसा ही होगा। कृष्ण जिसे जैसी बुद्धि प्रदान करते हैं, उस व्यक्ति को उसे स्वीकार कर लेना चाहिए। लोकलाञ्छन के भय से श्रीवार्षभानवी देवी श्रीमती राधिकाजी कृष्ण की सेवा का परित्याग नहीं करती।

प्रश्न 160—क्या वापसी का टिकट (Return ticket) कराकर गुरु एवं गौरांग के निकट आना उचित है?

उत्तर—कभी नहीं। जो वापसी का टिकट कराकर मठ में आते हैं, वे सम्पूर्ण रूप से भगवान को नहीं चाहते। जो वास्तव में भगवान को चाहते हैं, वे क्या भगवान के पास आकर वापस जाना चाहेंगे? यदि किसी के हृदय में भगवत् सेवक का अभिमान जाग जाय, तो क्या वह भगवान की साक्षात् सेवा छोड़कर माया की सेवा करने के लिए तैयार हो सकता

है? जिन्हें दिव्य ज्ञान प्राप्त हो गया है, वे कभी भी वापसी टिकट कराकर अपने इष्टदेव के पास नहीं आते, न आ सकते हैं। जिनके हृदय में प्रभु अभिमान या कर्त्ता अभिमान है, जिनका कोई लाल्य-पाल्य है, जगत में जिसका भगवान के अतिरिक्त कोई दूसरा भी है, जिनके हृदय में गुरुदास अभिमान के स्थान पर पति, पिता, पुत्र, पण्डित, मुर्ख, निर्धन इत्यादि मायिक अभिमान हैं, वे ही अपने को भगवान का दास न मानकर स्त्री, पुत्र, कन्या इत्यादि का सेवक मानते हैं, जिसके फलस्वरूप उन्हें उद्वेग एवं दुःख ही प्राप्त होता है। इसीलिए शास्त्र हमें गुरु एवं कृष्ण के निकट गमन करने के लिए नहीं, बल्कि अभिगमन करने के लिए कहते हैं। अभिगमन में वापसी का कोई प्रश्न ही नहीं होता। श्रुति कहती है—**"तद्विज्ञानार्थं गुरुमेवाभिगच्छेत्"**। अभिगमन का अर्थ आश्रय ग्रहण करना है।

प्रश्न 161—लोगों से किस प्रकार की बातें करनी चाहिए?

उत्तर—मनुष्यों के रोग विभिन्न प्रकार के होते हैं। अतः सब की चिकित्सा अलग-अलग करनी चाहिए। रोग का निर्णय न होने पर चिकित्सा अच्छी प्रकार से नहीं हो सकती, जिससे रोग दूर नहीं होगा। अनुभवहीन चिकित्सक ऐसे भिन्न भिन्न प्रकार के रोगियों की चिकित्सा नहीं कर सकते अर्थात् उनकी चिकित्सा से थोड़ा-बहुत ही लाभ हो सकता है। मुझे चालीस वर्ष तक कोई व्यक्ति ही नहीं मिला। अब जो लोग मिल रहे हैं, वे कुछ कथा तो सुन रहे हैं। परन्तु अपने विद्या बुद्धि का भरोसा नहीं छोड़ना चाहते हैं। जगत में लोग लोकप्रियता चाहने वाले हैं, वास्तव सत्य-वस्तु को कोई नहीं चाहता। जो अपने को धर्म का प्रचारक मानते हैं, वे लोगों के कल्याणजनक कथाओं को न कहकर सबके मन के अनुसार कथाओं को कहकर अपना मान-सम्मान अर्जन करने में ही व्यस्त हैं। सत्यकथा कहने एवं सुनने से लोकप्रिय नहीं हुआ जा सकता, इसीलिए हम बहिर्मुख लोगों की सहानुभूति नहीं चाहते हैं।

प्रश्न 162—क्या भगवान की सेवा स्वयं या अन्य लोगों के साथ नहीं की जा सकती?

उत्तर—जो सेवा करते हैं, परमेश्वर ने जिन्हें अपने सेवक के रूप में नियुक्त किया है, उनका संग छोड़कर अन्य किसी के संग में सेवा करने का विचार कैसे आ सकता है? जो धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चाहते हैं, वे सेवक नहीं है अथवा जो सेवा का अभिनय मात्र करते हैं, और भगवान को अपनी इन्द्रिय-तृप्ति का साधन मानते हैं, वे भी सेवक नहीं हैं। अतः ऐसे लोगों के संग में सेवा कैसे होगी? साधारण बद्ध जीवों की स्वयं ही या ऐसे लोगों के उपदेशों को सुनकर कृष्ण के चरणों में मति नहीं लग सकती। क्योंकि वे गृहव्रत अर्थात् गृह में आसक्त हैं। वे लोग ही गृहव्रत हैं, जो सांसारिक कार्यों में ही व्यस्त रहते हैं। इसीलिए शास्त्र ऐसे बहिर्मुख लोगों

का दु:संग त्याग करने के लिए कहते हैं।

साधु का कार्य 24 घण्टे में 24 घण्टे वास्तव वस्तु भगवान के संस्पर्श में रहना है। ऐसे साधुओं का संग होने पर ही भगवान की सेवा की प्रवृत्ति जागती है। साधु उसे ही कहते हैं, जो अपने उपदेशरूपी अस्त्र के द्वारा अपने, निकट आने वाले व्यक्ति के समस्त विपत्तियों को छिन्न-भिन्न कर सकते हैं, संसार के प्रति आसक्ति एवं मनोधर्म सब कुछ नष्ट कर सकते हैं।

संग कैसे होता है? कान के द्वारा। कान के अतिरिक्त अन्य प्रकार से दु:संग भी हो सकता है। कान से भी सत्संग नहीं हो सकता है, यदि हम लोग आत्मसमर्पण न करें या हमारे हृदय में अहंकार प्रबल रहे।

प्रश्न 163—क्या हरिनाम के अतिरिक्त हमारे कल्याण का कोई अन्य उपाय नहीं है?

उत्तर—कैसे होगा? कलियुग का युगधर्म तो हरिनाम संकीर्तन है। अतः युगधर्म का परित्यागकर युग-वासियों (कलियुग) का मंगल हो ही नहीं सकता। मंगलमय भगवान ने हमारे मंगल के लिए जो व्यवस्था की है, उस हरिनाम को छोडकर अन्य उपाय के द्वारा हमारा मंगल कैसे हो सकता है?

जो हरिनाम के अतिरिक्त आत्मकल्याण का कोई अन्य alternative या उपाय बताते हें, वे तार्किक हैं। हरिनाम के अतिरिक्त अन्य उपायों की कल्पना करना ही आजकल के लोगों का स्वभाव बन गया है। जो हरिनाम करने वाले को एक Party मानते हैं, जो ऐसा मानते हैं कि हरिनाम श्रवण अथवा कीर्तन ही आत्म-कल्याण का एकमात्र उपाय नहीं है। वे अप्राकृत वस्तु को जड़ इन्द्रियों के द्वारा जानना चाहते हैं। इस प्रकार वे भगवान के आदेशों का उल्लंघन करते हैं। इसीलिए वे सब माया के दल हैं, अथवा अभक्त सम्प्रदाय हैं। खुदा के ऊपर खुदागिरि करना अच्छा नहीं है, इससे सर्वनाश ही होता है, अमंगल ही होता है। इस विषय में शास्त्र कहते हैं—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेनामैव केवलम्।
कलौ नास्त्यैव नास्त्यैव नास्त्यैव गतिरन्यथा॥

अर्थात् कलियुग में हरिनाम के अतिरिक्त आत्मकल्याण का कोई अन्य उपाय नहीं हैं।

प्रश्न 164—चैत्त्यगुरु या अन्तर्यामी की कृपा कैसी है?

उत्तर—चैत्त्यगुरु, दीक्षागुरु एवं शिक्षागुरु के उपदेशों को ग्रहण करने की शक्ति प्रदान करते हैं। चैत्त्यगुरु की कृपा के बिना (अन्तर्यामी की कृपा के बिना) महान्तगुरु (दीक्षागुरु एवं शिक्षागुरु) के उपदेशों को नहीं समझा जा सकता, उनकी कृपा नहीं प्राप्त की जा सकती, चित्त की मलिनता दूर नहीं हो सकती तथा शिक्षा दृढ़ नहीं हो सकती। चैत्त्यगुरु ही कृपापूर्वक दीक्षा-शिक्षा गुरु की कृपा ग्रहण करने की योग्यता प्रदान करते हैं। श्रीचैतन्य

महाप्रभु स्वयं ही दीक्षागुरु के रूप में दिव्यज्ञान ओर शुद्धभक्ति प्रदान करते हैं तथा अपने से अभिन्न शिक्षा गुरु को जगत में भेजकर उस भक्ति की रक्षा भी करते हैं एवं स्वयं ही चैत्त्यगुरु होकर सेवोन्मुख जीवों के हृदय में उस दीक्षा और शिक्षा को ग्रहण करने की शक्ति देते हैं।

प्रश्न 165—क्या वेदान्त अध्ययन करना चाहिए?

उत्तर—वेदान्त शास्त्र की आलोचना अवश्य ही करनी चाहिए, परन्तु वेदान्त पर शंकराचार्य द्वारा रचित भाष्य नहीं पढ़ना चाहिए। 'श्रीभाष्य या गोविन्दभाष्य' की सहायता से ही वेदान्त का अध्ययन करने पर कल्याण होगा। श्रीमद्भागवत वेदान्त का अकृत्रिम (असली) भाष्य है। अतः श्रीमद्भागवत के आनुगत्य में ही वेदान्त का अध्ययन करना चाहिए। वेदान्तशास्त्र में श्रीहरिनाम प्रभु की महिमा का प्रचुर रूप में गुणगान किया गया है। **'अनावृत्तिः शब्दात्, अनावृत्तिः शब्दात'।** हरिनाम प्रभु का कीर्तन करते हुए वेदान्त का अध्ययन करना चाहिए।

प्रश्न 166—ज्ञानी एवं भक्तों के संन्यास में क्या अन्तर है?

उत्तर—भगवान का भजन ही संन्यास की पूर्ण अवस्था है। ज्ञानमार्गी लोगों के अनुसार 'अहं ब्रह्मास्मि' के विचार में परब्रह्म की सेवा त्याग करने का नाम ही संन्यास है। वे संन्यास ग्रहण करते समय भगवान की सेवा का परित्याग कर देते हैं। निरन्तर भगवान की सेवा ही संन्यास का वास्तविक अर्थ है, वे दुर्भागे लोग इसे समझ नहीं पाते। इसीलिए मायावादी संन्यासी लोग कृष्ण के नाम, रूप, गुण, परिकर वैशिष्ट्य एवं लीला इत्यादि से संन्यास ग्रहण कर लेते हैं अर्थात् इन सबको मायिक वस्तु मानकर इनका परित्याग कर देते हैं। परन्तु भक्तलोग भुक्ति एवं मुक्ति से संन्यास ग्रहण करते हैं, अर्थात् वे भुक्ति (समस्त प्रकार के भोगों के इच्छा) एवं मुक्ति का परित्याग कर देते हैं। परन्तु मायावादी भुक्ति से संन्यास करते-करते भक्ति से भी संन्यास ग्रहण कर लेते हैं। भगवद्भक्त भुक्ति और मुक्ति की कामनाओं से संन्यास लेकर श्रीभक्तिदेवी के चरणकमलों का आश्रय ग्रहण करते हैं। श्रुतिदेवी जिनके श्रीचरणकमलों के नख की पूजा करती हैं, भगवद्भक्त ऐसे अप्राकृत श्रीनामप्रभु की सेवा से संन्यास ग्रहण नहीं करते, वे श्रीनामप्रभु को अनित्य नहीं मानते, क्योंकि वे श्रीनामाश्रित अर्थात् श्रीनामप्रभु के सेवक हैं इसीलिए वे सर्वदा श्रीनाम-भजन में तत्पर रहते हैं।

प्रश्न 167—हमारा मंगल कैसे होगा?

उत्तर—कृष्ण एवं कार्ष्ण (कृष्णभक्त) के श्रीचरणकमलों का आश्रय ग्रहण करने से ही हमारा कल्याण होगा। जो व्यक्ति स्वयं को कर्ता मानता है उसका कल्याण नहीं हो सकता। आत्मा की वृत्ति को प्रकाशित करने के लिए शुद्धभक्तों का संग अत्यन्त आवश्यक है। नामधारी भक्तों के संग से

कल्याण नहीं होगा।

श्रीकृष्ण के चरणकमलों की सेवा के अतिरिक्त सब कुछ अमंगल ही अमंगल है। धर्म, अर्थ, कामिनी (स्त्री), प्रतिष्ठा एवं मोक्ष की कामना भक्ति नहीं है। यदि हमारे प्रत्येक कार्य में, पद-पद पर एवं प्रत्येक प्रकार की चिन्ता में कृष्ण सेवा होती है, तभी सब कुछ ठीक है, उसी से हमारा कल्याण होगा।

अपने कल्याण के इच्छुक लोगों को अकृत्रिम (असली) साधुओं की खोज करनी चाहिए। यदि हमारे हृदय में, आलस्य, कपटता या अनेक प्रकार की कामनाएँ रहेंगी, तो हमें वैसे ही साधु या गुरु प्राप्त होंगे। श्रीकृष्ण का कीर्तन करने वाले कृष्ण के प्रिय श्रीगुरुदेव के चरणकमलों का आश्रय ग्रहण करने से ही हमारा वास्तविक मंगल होगा। भाग्य यदि अच्छा हो, तो कृष्ण-कृपा से अवश्य ही हमें सद्गुरु की प्राप्ति होगी।

दुश्चरित्र व्यक्ति श्रीमद्भागवत का पाठ नहीं कर सकते। भक्त भागवत ही श्रीमद्भागवत का पाठ एवं हरिकीर्तन कर सकते हैं। चरित्रहीन अन्याभिलाषी एवं दाम्भिक व्यक्ति के मुख से हरिकथामृत नहीं निकलती। वे जो कुछ कहते हैं, वह विष ही होता हैं। इसीलिए जिस किसी के मुख से श्रीमद्भागवत एवं हरिकथा नहीं सुननी चाहिए। उससे कल्याण के स्थान पर अकल्याण ही होता है।

गुरुत्यागी एवं गुरुसेवा विमुख व्यक्ति का संग दृढ़तापूर्वक त्याग करना चाहिए। वे असत् हैं, उनका संग करने से जीवों का सर्वनाश हो जाता है। गुरुनिष्ठ भक्तों से ही हरिकथा सुननी चाहिए, जिससे हमारी भी गुरु के प्रति एवं नाम के प्रति निष्ठा हो जाएगी। हरि एवं गुरुदेव के चरणकमलों में हमारी शरणागति होगी, हृदयमें दृढ़ता, बल एवं साहस आएगा। ऐसे निष्किञ्चन गुरुनिष्ठ भक्तों से हरिकथा श्रवण करने से उनके संग के प्रभाव से हमारे हृदय में ऐसा विचार आएगा कि एकमात्र भक्ति ही कल्याण का मार्ग है। उस समय निर्विशेषवाद, कर्म, ज्ञान एवं योग इत्यादि सब कुछ तुच्छ प्रतीत होंगे।

कृष्ण का आश्रय ग्रहण करने पर ही कल्याण होता है। यदि भगवान के चरणों का आश्रय ग्रहण किया जाए, तो हमें पढ़ना, लिखना, बोलना आये अथवा नहीं आए, इसका कोई महत्त्व नहीं रह जाता।

भगवान के भक्त जीवों का कल्याण करने के लिए इस जगत में आते हैं। इस जगत में उनका कोई कर्त्तव्य नहीं है। उन्हें इस जगत में आने की कोई आवश्यकता भी नहीं है। जीवों की बहिर्मुख प्रवृत्ति को बदलकर कृष्ण उन्मुख करना ही उनका एकमात्र कार्य और कर्त्तव्य हैं। ऐसे शुद्ध भक्तों का संग ही मंगलप्रद है।

प्रश्न 168—हम साधु को कैसे पहचानेंगे?

उत्तर—अनेक समय हम साधु को पहचानने की चेष्टा करते है।

उनकी सेवामय क्रिया-कलापों को न समझ पाने के कारण उन्हें त्याग कर देते है, जैसे कि हम परीक्षक हैं। हम किस यन्त्र के द्वारा साधु की परीक्षा कर रहे हैं? हमें अहंकार परित्यागपूर्वक दैन्य एवं आर्ति भाव के साथ साधुओं के पास जाना चाहिए। उनके शरणागत होकर उनका संग करने पर ही उनकी कृपा से ही उन्हें जाना जा सकता है। अन्य किसी प्रकार से साधु को नहीं जाना जा सकता है। निष्कपट होकर साधुओं से हरिकथा सुनने पर हमारी समस्त प्रकार की असुविधाएँ एवं अमंगल दूर हो जाएँगे और हमारे हृदय में प्रचुर बल आएगा।

गीता में कृष्ण कह रहे हैं—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

(गीता 4/34)

प्रणिपात, परिप्रश्न एवं सेवाभाव को लेकर भगवद्तत्वविद् साधुओं के निकट जाने पर वे हमें भगवद् भजन के इच्छुक एवं शरणागत जानकर उपदेश प्रदान करेंगे।

प्रश्न 169—हमलोग किस प्रकार से रहेंगे?

उत्तर—आपलोग शुद्धभक्तों से हरिकथा सुनते रहें, सम्पूर्ण विश्व को भगवान् के सेवक के रूप में देखें, ऐसा करने से आपलोगों का कोई दुःख नहीं रहेगा।

आपलोग भगवान की कथाओं में अपने मन को नियुक्त करें। भगवान् क्या कह रहे हैं, इसे कानों को खड़ाकर सुनते रहिये। भगवान् क्या कह रहे हैं? भगवान् कह रहे हैं—"हे जीव! तुम्हारे अनादिकाल से बहिर्मुख होने पर भी, अन्तर्मुख धर्म भी तुझमें था, तू मेरी सेवा कर सकता था, किन्तु ऐसा न कर उल्टा तू मुझसे सेवा चाह रहा है। मुझे भूलकर तू स्वयं प्रभु सजना चाह रहा है, किन्तु ध्यान रखना कि तू सेवक है, प्रभु कभी भी नहीं है।"

श्रीहरि ही सबके प्रभु हैं, बाकी सब उनके सेवक हैं। हरिकथा श्रवण करना ही उनकी सेवा है। हरिकीर्तनकारी गुरु होते हैं तथा श्रवणकारी शिष्य होता है। श्रवणकारी को Submissive (अनुगत) होना होगा। हरिकथा सुनने के लिए आग्रह रहना चाहिए। जिस दिन हरिकथा सुनने का सुयोग नहीं मिलता, वही दिन दुर्दिन है।

आपलोग श्रीमद्भागवत की कथा सुनें। श्रीमद्भागवत कह रही है— अनेक जन्मों के बाद मनुष्य जन्म प्राप्त हुआ है, अतः यह अत्यन्त दुर्लभ है। मनुष्य जन्म अनित्य होने पर भी परमार्थप्रद है। स्वतन्त्रता का परित्याग कर शरणागत होकर निष्कपटरूप में भजन करने पर इसी जन्म में भगवान की प्राप्ति हो सकती है। अतः बुद्धिमान् व्यक्ति मृत्यु से पूर्व ही क्षणमात्र भी विलम्ब न कर चरम-कल्याण प्राप्त करने के लिए यत्न करेंगे। आहार-

विहार आदि सभी जन्मों में पाये जाते हैं, किन्तु परमार्थ (भक्ति) अन्य जन्मों में नहीं पायी जा सकती। हमारा कोई भी जन्म क्यों न हो, विषय सभी जन्मों में प्राप्त हो जायेंगे। मनुष्य न होने पर भी विषय सभी जन्मों में पाये जायेंगे, इसलिए मनुष्य जन्म में श्रेय (आत्म-कल्याण) का ही अनुशीलन करना चाहिए।

भगवान् की सेवा ही एकमात्र श्रेय या मंगल है। सेवा किसे कहते हैं, इसे जानने की आवश्यकता है। केवल सेव्य (भगवान) का सुख विधान ही सेवा है। श्रीहरि सबके मूल हैं, सबके प्रभु हैं, सबके उपास्य हैं, सबके एकमात्र सेव्य हैं। हम सभी उन श्रीहरि के ही सेवक हैं। उनकी सेवा ही हमारा धर्म, कार्य या कर्त्तव्य है। इसके अलावा हमारा अन्य कोई कर्त्तव्य नहीं है। भगवान् ही पूर्ण वस्तु हैं तथा जीव के एकमात्र उपास्य वस्तु हैं। उनकी सेवा प्राप्त करने के लिए उनके विषय में जानकारी देनेवाले उनके प्रकाशविग्रह श्रीगुरुदेव के चरणकमलों का आश्रय ग्रहण करना होगा ओर प्रीतिपूर्वक उनकी सेवा करनी होगी। श्रीगुरुदेव के अतिरिक्त इस जगत में ऐसा निःस्वार्थ बन्धु तथा परमात्मीय अन्य कोई नहीं हो सकता। गुरु को अपना जानकर प्रीतिपूर्वक उनकी सेवा करने से ही हमारा मंगल होगा। आदरपूर्वक उनकी सेवा करते-करते ही यह अभिमान उत्पन्न होगा कि मैं उनका सेवक हूँ तथा श्रीगुरु-गोविन्द के प्रति प्रीति उत्पन्न होगी।

प्रश्न 170—किससे भगवान् की कथा सुनने से मंगल होगा?

उत्तर—जो भगवान का दर्शन करा सकते हैं, जो 24 घण्टे में 24 घण्टे ही भगवान की सेवा में रत रहते हैं, ऐसे श्रीगुरुपादपद्म के श्रीमुख से ही भगवत् कथा एवं भगवत् सेवा की कथा सुननी होगी। तभी हमारा मंगल होगा, हमारे हृदय में भगवान की सेवा की प्रवृत्ति जागेगी।

श्रीभगवान का सेवागार या सेवाशिक्षागार ही हरिकीर्तन से गुञ्जायमान मठ-मन्दिर है। वहाँ पर हरिकथा ओर हरिसेवा की ही प्रधानता होती है। श्रीचैतन्यदेव के निजजन श्रीगुरुपादपद्म एवं गुरुनिष्ठ भक्तों से ही प्रणिपात (शरणागत होकर), परिप्रश्न तथा सेवावृत्ति सहित हरिकथा श्रवण करने से ही मंगल होगा—जीव की चेतनता जाग्रत होगी (वह तभी समझ पायेगा कि मैं भगवान् का सेवक हूँ)। भगवान के भक्त भक्तिनेत्रों के द्वारा हृदय में श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण का दर्शन करते हैं। ऐसे साधुओं का संग करने से और उनकी कृपा होने से ही हम अपने हृदय में भगवान का दर्शन कर सकते हैं। इन नेत्रों के द्वारा भगवान का दर्शन नहीं हो सकता, भक्तिनेत्रों से ही भगवान का दर्शन होता है। श्रीकृष्ण की आराधना करने से ही हमारा नित्य मंगल होगा। जिस क्षण हम समझ पायेंगे कि भगवान श्रीकृष्ण ही हमारे प्रभु हैं, मैं उनका सेवक हूँ, उसी क्षण हमारी समस्त असुविधाएँ दूर हो जायेंगी ओर हमारे मंगल का द्वार खुल जायेगा। हमें दृढ़तापूर्वक इसे जान लेना चाहिए कि इस जगत में श्रीहरि के अतिरिक्त कोई भी वस्तु आराधना के

योग्य नहीं है।

प्रश्न 171—हम कैसे जान पायेंगे कि हमारा शुद्धनाम हो रहा है?

उत्तर—जिसके मुख से एक बार भी शुद्धनाम उच्चारित हो जाता है उसमें चरित्रहीनता नहीं रह सकती, उसकी गुरुगिरी करने की दुष्प्रवृत्ति पूर्णरुप से नष्ट हो जाती है तथा कनक, कामिनी और प्रतिष्ठा की इच्छा उसके हृदय में स्थान नहीं पा सकती। श्रीनाम के आभास से ही पाप, पापवासना ओर अविद्या नष्ट हो जाती है। यदि इन तीनों में से कोई एक भी हृदय में रहे, तो समझ लेना चाहिए कि एकबार भी शुद्धनाम उच्चारित नहीं हुआ है।

श्रीनाम साक्षात भगवान हैं। श्रीनाम शब्द-ब्रह्म हैं। ब्रह्मवस्तु श्रीनाम को मैं Regulate नहीं कर सकता, श्रीनाम ही मुझे Regulate करेंगे, मुझपर कृपा करेंगे, मेरा उद्धार करेंगे। यदि साधु-गुरु की कृपा से यह जानने का सौभाग्य प्राप्त हो जाय कि मैं श्रीनाम का सेवक हूँ, तो हृदय में कनक, कामिनी ओर प्रतिष्ठा प्राप्ति की इच्छा रह ही नहीं सकती। जो कनक, कामिनी और प्रतिष्ठा के जबड़े से मुक्त हो गये हैं, उनके मुख से ही शुद्धनाम उच्चारित होता है। शुद्धसत्ता (मायामुक्त चित्त) में ही शुद्धनाम की स्फूर्ति होती है। कृष्णनाम साक्षात कामदेव हैं। काम तथा कामदेव एक साथ नहीं रह सकते।

प्रश्न 172—हमारे हृदय से कामना वासना कैसे दूर होगी?

उत्तर—श्रीमद्भागवत में कहा है—साधुओं के हितकारी कृष्ण अपने नाम-गुण-श्रवणकारी व्यक्तियों के हृदय में अन्तर्यामी चैत्यगुरु के रूप में विद्यमान रहकर उसके हृदय में स्थित कामनाओं-वासनाओं को जड़ से ध्वंस कर देते हैं।

जो भगवान की मंगलमयी कथाओं को श्रद्धापूर्वक प्रतिदिन श्रवण करते हैं अथवा कीर्तन करते हैं, भगवान अति शीघ्र स्वयं उसके हृदय में आविर्भूत हो जाते हैं। यदि सद्गुरु से हरिनाम श्रवण किया जाय, उनसे श्रीनाम ग्रहणकर निरन्तर कीर्तन किया जाय, तो अन्य चिन्ता ओर कामनाएँ सब दूर हो जायेंगी तथा सब समय कृष्णस्मृति होती रहेगी। कीर्तन के प्रभाव से ही स्वाभाविकरूप में स्मरण होता है। सरल हृदय से निरन्तर या प्रतिदिन श्रवण-कीर्तन किया जाय, तो अवश्य ही मंगल होगा तथा समस्त प्रकार की असुविधाएँ दूर हो जायेंगी।

प्रश्न 173—हम अपने को कैसे जान पायेंगे?

उत्तर—कृष्णप्रेष्ठ श्रीगुरुदेव की कृपा से ही हम स्वयं को जान पायेंगे—अपने चिदानन्द-स्वरूप को पा सकेंगे। सदैव साधुसंग करना होगा। साधुसंग के फल से ही असल-देह की खोज पाई जायेगी—स्वस्वरूप का प्रकाश होगा। तभी जड़देह के प्रति आत्मबुद्धि या प्राकृत अभिमान दूर होगा और

तभी सर्वनाशकर अपने सुख की वासना हमेशा के लिए दूर होगी। मैं भगवान का सेवक हूँ—यही जीव का स्वरूप है। भगवत्-सेवकों के साथ भगवान की सेवा करते-करते ही हमारा स्वरूप जागृत होगा। तब और विरूप की चेष्टा भोगप्रवृत्ति नहीं रहेगी।

प्रश्न 174—हम कृष्ण की सेवा क्यों नहीं कर पा रहे हैं?

उत्तर—महापुरुषों की कृपा के बिना कृष्णसेवा कोई नहीं कर सकता। इसीलिए सद्गुरु-चरणाश्रय की इतनी आवश्यकता है। **"महत्कृपा बिना कोन कर्मे भक्ति नय। कृष्णभक्ति दूरे रहु, संसार नहे क्षय॥"**

जो सब समय कृष्णसेवा करते हैं, उन साधुओं के संग में रहने से ही हमारी सेवाप्रवृत्ति जागेगी। कृष्णभक्तों के संग के बिना कृष्णसेवा की इच्छा नहीं जाग सकती। हरिसेवा कोई तमाशे की चीज नहीं है। यह केवल साधुसंग और कृपा-सापेक्ष है (कृष्णसेवा केवल साधुओं के संग में या साधुओं की कृपा से ही होती है।) साधु एवं गुरु का पूर्ण आनुगत्य करने पर ही सेवा का सौभाग्य प्राप्त होता है।

सेवक अभिमान न होने पर सेवा नहीं होती। सेव्य और सेवक का योगसूत्र ही है—भक्ति या सेवा। हम सेवक न होकर सेव्य होना चाहते हैं। अतः सेवा कैसे होगी? सेवक ही तो सेवा करेगा।

मैं कर्ता होकर श्रवण करूँगा, दर्शन करूँगा, कीर्तन करूँगा, स्मरण करूँगा—यह तो कर्मियों का या अभक्तों का विचार है। इस भयानक कर्ता-अभिमान को त्यागकर सेवक अभिमान प्रतिष्ठित होने पर ही सेवा होगी। इसलिए भगवान के सेवक हमलोग 24 घण्टे में 24 घण्टे ही साधुओं के संग में रहकर उनके आनुगत्य में और उनके निर्देशानुसार भगवान की सेवा करेंगे. तभी हमारा मंगल होगा—हमें शुद्ध सेवा प्राप्त होगी। अपने ऊपर भरोसा छोड़कर सम्पूर्ण रूप से श्रीगुरु-गौरांग के ऊपर निर्भर रहने से ही हमारे समस्त प्रकार की असुविधाएँ एवं सेवा की बाधाएँ कट जायेंगी। तब हमलोग श्रीगुरुदेव के आनुगत्य में आनन्दपूर्वक सेवा कर पायेंगे। (1) पति-पत्नी (मधुर भाव) का सम्बन्ध, (2) पिता-पुत्र (वात्सल्य भाव) का सम्बन्ध, (3) बन्धु-बन्धु (सख्य भाव) का सम्बन्ध ओर (4) प्रभु-सेवक (दास्य भाव) का सम्बन्ध,—इन चार सम्बन्धों में से कृष्ण के साथ कोई एक सम्बन्ध होने पर ही मंगल होगा तथा तभी सेवा होगी।

सम्बन्ध न होने पर सेवा नहीं होती। सेवा करते-करते सम्बन्ध परिस्फूटित होता है। इस जगत में भी लोग इन चार सम्बन्धों के द्वारा ही सेवा करते हैं। कृष्ण के साथ सम्बन्धज्ञान के अभाव में ही इस जगत में हमारा अनित्य सम्बन्ध हुआ है।

हमलोग गुरु-कृष्ण के eternal slaves हैं, गुरु-कृष्ण के नित्य खरीदे हुए गुलाम हैं—इस बात को भूलने के कारण ही हमारी ऐसी दुर्गति हो रही है। अब साधु-गुरु की कृपा से इसका स्मरण होते ही हमें सुविधा

होगी, हम भक्ति-पथ या सेवा-पथ में अग्रसर हो पायेंगे।

प्रश्न 175—किस विषय में हमें सावधान रहना होगा?

उत्तर—जगत की सभी वस्तुएँ भगवान की हैं। अतः उन सभी वस्तुओं के प्रति भोगबुद्धि करने पर विपत्ति में पड़ जाएंगे। जो भगवान की कथा के श्रवण से विमुख होंगे, वे संसार में आसक्त और आबद्ध हो जायेंगे। इसलिए मंगलाकांक्षी सज्जन व्यक्ति शुद्ध साधुओं के मुख से हरिकथा श्रवण करने के लिए चेष्टाशील रहेंगे।

मैं बहुत सेवा कर रहा हूँ, मैंने बहुत सेवा की है, मैं वैष्णव हो गया हूँ—ऐसा सोचना दुर्बुद्धि है। इन सब पागलपन को छोड़कर दीन-हीन होकर कृपा की भिक्षा करते-करते सेवा प्राप्त करने के लिए यत्न करना होगा। गुरुवैष्णवों की सेवा को त्यागकर कृष्ण की सेवा का अभिनय फूटी हांडी में जल रखने के समान ही है। गुरुवैष्णवों की सेवा को त्यागकर कृष्ण की सेवा का छल या हरिनाम करने का अभिनय केवल दाम्भिकता है। सब समय साधुओं के साथ में रहना होगा। दुर्बल होने के कारण मैं सत्संग के बिना बच नहीं पाऊँगा। सब समय साधुओं के साथ में न रहने पर स्वयं ही प्रभु होने की दुर्बुद्धि प्रबल हो जायेगी और नाना प्रकार की दुश्चिन्ताएँ आकर हमें विपत्ति में डाल देंगी।

यह संसार नरक का द्वार है। प्रेयः या संसार प्रारम्भ में कुछ अच्छा लगने पर भी अन्त में निराशापूर्ण है।—'माधव हाम परिणाम निराशा' अर्थात् हे माधव! यह संसार परिणाम में निराशापूर्ण है।

प्रश्न 176—क्या गुरु-कृपा ही कृष्ण-कृपा है?

उत्तर—निश्चय ही। कृष्ण गुरु के रूप में ही जीवों पर कृपा करते हैं, उन्हें आश्रय प्रदान करते हैं—

कृष्ण यदि कृपा करेन कोन भाग्यवाने।
गुरु-अन्तर्यामीरूपे शिखाय आपने॥
गुरु कृष्णरूप हन शास्त्रेर प्रमाणे।
गुरुरूपे कृष्ण कृपा करेन कोन भक्तगणे॥

गुरुकृपा और कृष्णकृपा पृथक् नहीं है। गुरुदेव कृष्णभजन के अतिरिक्त और कुछ नहीं करते। कृष्ण भी अपने प्रियजन की सेवा के अतिरिक्त अन्य किसी की सेवा ग्रहण नहीं करते।

सभी प्रकार की सेवाओं को गुरुदेव ही कृष्ण के चरणों में निवेदन करते हैं। जिनकी सब समय सेवा करनी होगी, वे श्रीगुरुदेव ब्रह्माण्डवासी कोई साधारण जीव नहीं हैं। वे कृष्ण की इच्छा से पतित जीवों का उद्धार करने के लिए इस जगत में अवतीर्ण होकर जीवों को भक्तिलता का बीज प्रदान करते हैं। भगवान की सेवा करने की सुबुद्धि प्रदान करते हैं। कृष्ण की कृपा गुरु के द्वारा ही हम तक पहुँचती है—

ब्रह्माण्ड भ्रमिते कोन भाग्यवान जीव।
गुरुकृष्णप्रसादे पाय भक्तिलता–बीज॥

अर्थात् ब्रह्माण्ड में भ्रमण करते–करते कोई भाग्यवान् जीव गुरु एवं कृष्ण की कृपा से ही भक्तिलता का बीज प्राप्त करता है।

प्रश्न 177—भक्त का विचार कैसा होता है?

उत्तर—जो वास्तव में ही भगवत्सेवक हैं, वे सुख–दुःख, सुविधा–असुविधा, किसी भी अवस्था में विचलित न होकर सभी अवस्थाओं में ही तन–मन–वचन से भगवान की सेवा करते रहते हैं। भक्त सदैव सेवा में ही अवस्थित रहते हैं। भक्तों का विचार होता है—मैं भगवान का सेवक हूँ। अतः भगवान की सेवा ही मेरा जीवन है, सेवा ही मेरा कार्य है; इसके अतिरिक्त सब कुछ मृत्यु या संसार है।

भक्त सेवात्मा होते हैं, इसीलिए वे सेवा के बिना नहीं रह सकते। सेव्यात्मा ही सेवात्मा हो सकते हैं। सेव्य, सेवक और सेवा—तीनों एक सूत्र में गुंथे हुए हैं।

प्रश्न 178—जो भगवान को चाहते हैं, उनका प्रथम कार्य क्या है?

उत्तर—जो वास्तव में भगवान को चाहते हैं, उनका प्रथम कार्य है—दुःसंग का त्याग। दुःसंग या असत्संग का त्याग किये बिना साधुसंग नहीं होता। कृष्णसेवा के अतिरिक्त अन्य कामनाएँ ही दुःसंग है।

शास्त्र कह रहे हैं—**दुःसंग कहिये कैतव, आत्मवञ्चना।** अर्थात् कृष्ण और कृष्णभक्ति के अतिरिक्त अन्य कामनाएँ दुःसंग हैं, जो कपट या आत्मवञ्चना हैं।

निष्कपट भक्तलोग दुःसंग या असत्संग का दृढ़तापूर्वक परित्याग करते हैं ओर आदर एवं प्रीतिपूर्वक साधुओं का संग तथा उनकी सेवा करते हैं।

लेकिन अब प्रश्न है कि साधु कौन है? जो सब समय हरिनाम, हरिकथा ओर हरिसेवा करते हुए दिन व्यतीत करते हैं, वे ही साधु हैं, वे ही भक्त हैं, वे ही सत् हैं। परन्तु जो सांसारिक बातों में, अपने इन्द्रियतर्पण में, सुख–सुविधाओं के चक्कर में ही दिन व्यतीत करते हैं, वे ही असत् या असाधु हैं। जो निष्कपट साधक हैं, वे भोगों को निन्दनीय जानकर यथायोग्यरूप में उन्हें स्वीकार करते हुए साधुसंग और साधुसेवा में तत्पर रहते हैं, जिसके फल से क्रमशः उनका मंगल होता है। इसीलिए श्रीमद्भागवत में असत्संग व त्यागकर सत्संग करने के लिए कहा गया है—

ततो दुःसंगमुत्सृज्य सत्सु सज्जेत बुद्धिमान्।
सन्त एवास्य छिन्दन्ति मनोव्यासंगमुक्तिभिः॥

(भागवत 11/26/26)

अर्थात् इसलिए बुद्धिमान् पुरुष को चाहिए कि वे दुःसंग छोड़कर

सत्पुरुषों का संग करें। सन्त पुरुष अपने सदुपदेशों से उनके मन की आसक्ति नष्ट कर देंगे।

भगवद्-विमुख व्यक्ति ही असत् हैं। जितने भी dear and near ones हैं, यदि वे भगवद्-विमुख हों, तो उन्हें छोड़ देना होगा। श्रीचैतन्य महाप्रभु से विमुख व्यक्ति ही भगवद्विमुख हैं। जिन्होंने श्रीचैतन्यदेव के श्रीचरणों का आश्रय ग्रहण नहीं किया है, जिन्होंने उनकी अमूल्य शिक्षाओं को ग्रहण नहीं किया है, वे ही चैतन्यविमुख हैं। जो श्रीचैतन्यदेव के भक्तों के आश्रित हैं, गौरभक्तों के प्रति श्रद्धालु और उनकी सेवा में रत हैं, वास्तव में वे ही भगवद् उन्मुख हैं। जिस प्रकार कोई विद्याप्रार्थी (विद्या प्राप्ति का इच्छुक) विद्वान का आश्रय ग्रहण किये बिना विद्या ग्रहण नहीं कर सकता, ठीक उसी प्रकार जो भगवान को चाहते हैं, वे भाग्यवान् सज्जनलोग कलिकाल में अवतीर्ण भगवान् श्रीगौरांगदेव और उनके भक्तों के श्रीचरणों का आश्रय ग्रहण किये बिना नहीं रह सकते। भक्तों के आश्रय में ही भगवान को पाया जाता है, भक्तगुरु का आश्रय ही भगवत् प्राप्ति का एकमात्र उपाय है। इसलिए उनकी ऐसी प्रचेष्टा रहती है।

प्रश्न 179—क्या धाम सर्वत्र ही है?

उत्तर—प्रत्येक जीव का हृदय तथा प्रत्येक परमाणु ही श्रीविष्णु का अधिष्ठान क्षेत्र या वासस्थान है। अतः सर्वत्र ही श्रीधाम है। जिस दिन गुरुदेव की कृपा से हृदय में स्फूर्ति होती है, उसी दिन ऐसा दर्शन होता है। तब और विश्वदर्शन नहीं होता है।

प्रश्न 180—अनर्थ क्या है?

उत्तर—अपने सुख की वाञ्छा ही अनर्थ है। इन्द्रियतर्पण की स्पृहा ही भगवान की सेवा में प्रधान बाधक है। उसके द्वारा भगवत्स्मृति बाधित हो जाती है और अन्य चिन्ताएँ हृदय में उदित हो जाती हैं।

प्रश्न 181—हम भगवत्कृपा कैसे पायेंगे?

उत्तर—जो सब समय हरिसेवा करते हैं, ऐसे श्रीगुरुदेव के उपदेशों और आदेशों का उल्लंघन न कर उनका आनुगत्य करने से हम अनायास ही भगवान की कृपा प्राप्त कर सकेंगे। गुरु की कृपा से ही कृष्ण की कृपा प्राप्त होती है। यदि गुरु प्रसन्न न हों, तो जीव का मंगल किसी प्रकार से नहीं हो सकता।

प्रश्न 182—क्या भगवान कृष्ण स्वयं ही अपनी सेवा की शिक्षा देने के लिए गुरु के रूप में अवतीर्ण होते हैं?

उत्तर—निश्चय ही। सच्चिदानन्द भगवान के शरीर में जो हाथ हैं, मानो उन हाथों से वे जैसे अपना ही शरीर खुजला रहे हैं। भगवान के

हाथ उनके शरीर ही है। इस प्रकार मानों भगवान स्वयं ही अपनी सेवा कर रहे हैं। भगवान स्वयं ही अपनी सेवा की शिक्षा देने के लिए गुरु के रूप में अवतीर्ण होते हैं। उसी प्रकार मेरे श्रीगुरुदेव भी भगवान से अभिन्न— भगवान के साथ एकदेह—सेव्य-भगवान और सेवक-भगवान, विषय-भगवान और आश्रय-भगवान हैं। मुकुन्द सेव्य-भगवान या विषय-भगवान हैं तथा मुकुन्दप्रेष्ठ श्रीगुरुदेव सेवक-भगवान या आश्रय-भगवान हैं। मेरे श्रीगुरुदेव के समान भगवान का प्रिय अन्य कोई नहीं है। वे भगवान के अत्यन्त प्रिय हैं।

चने के दो दलों की भाँति विषयजातीय कृष्ण आधे और आश्रयजातीय कृष्ण आधे, इन दोनों का विलासवैचित्र्य ही पूर्ण है। विषयजातीय पूर्णप्रतीति स्वयं कृष्ण तथा आश्रयजातीय पूर्णप्रतीति मेरे श्रीगुरुदेव हैं। {जिस प्रकार चने के दो दलों के मिलने पर ही पूरा चना बनता है, उसी प्रकार विषयजातीय कृष्ण (भगवान) और आश्रयजातीय कृष्ण (गुरुदेव) का संयुक्त स्वरूप ही पूर्ण कृष्णस्वरुप है। अर्थात् दोनों में से एक को भी नहीं मानने से कृष्ण को मानना नहीं होगा।}

श्रीकृष्ण विषयजातीय ब्रह्मवस्तु और श्रीगुरुदेव आश्रयजातीय ब्रह्मवस्तु हैं। हमलोग लघु से भी लघु, उससे भी लघु हैं और जो सब समय वृहत् (भगवान) की सेवा करते हैं, वे सेवाविग्रह श्रीगुरुदेव वृहत् से भी वृहत् तथा उससे भी वृहत् हैं। श्रीगुरुपादपद्म मुकुन्दप्रेष्ठ हैं। श्रीगुरुपादपद्म सबसे श्रेष्ठ आश्रय हैं। उन कृष्णप्रेष्ठ श्रीगुरुदेव को आश्रयजातीय भगवान मानना होगा, तभी हमारा कल्याण होगा।

प्रश्न 183—भक्ति क्या है?

उत्तर—जिस पथ में कृष्ण की सेवा की बात नहीं है, वह अभक्तिमार्ग है। कृष्णानुशीलन ही भक्ति है। अनुशीलन का अर्थ है—निरन्तर सेवा। भक्ति के उदित होने पर जीव भक्त कहलाता है।

कृष्ण को सुखी रखने का नाम ही भक्ति है। भक्ति में अन्याभिलाष बिल्कुल भी नहीं रहेगी। कृष्ण के सुख की कामना के अतिरिक्त भक्त किसी अन्य उद्देश्य से भगवान की सेवा नहीं करते।

भक्ति के प्रारम्भ में ही श्रद्धा की बात है। 'श्रद्धावान् जीव हय भक्ति-अधिकारी' अर्थात् श्रद्धावान् जीव ही भक्ति का अधिकारी है। सर्वप्रथम साधुसंग में शास्त्रों का श्रवण करने से श्रद्धा अर्थात् शास्त्र की बातों में विश्वास हो जाता है। कृष्ण के साथ सम्बन्धज्ञान तो हुआ नहीं, फिर भी भक्ति हो गयी, ऐसा कदापि नहीं हो सकता। क्योंकि शास्त्र कहते हैं—**'भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र चैष त्रिक एककालः।'** अर्थात् विषयों से वैराग्य और भगवद्-ज्ञान भक्ति के साथ एक ही समय उदित होते हैं। भक्ति का उदय हुए बिना विषयों से वैराग्य और भगवान की अनुभूति की कोई सम्भावना नहीं है। शुद्धभक्ति में धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष की वाञ्छा नहीं रहती। भक्तों के

संग से ही भक्ति होती है।

प्रश्न 184—भक्तिप्राप्ति का उपाय क्या है?

उत्तर—भक्ति प्राप्त करने के लिए सबसे पहले भक्ति के 64 अंगों में से मुख्य भक्ति-अंग श्रीगुरुपादपद्म का आश्रय ग्रहण करना होगा। श्रीगुरुपादपद्म का आश्रय ग्रहण न करने पर किसी भी काल में भक्ति का अधिकार प्राप्त नहीं हो सकता। श्रीगुरुदेव का आश्रय ग्रहण किये बिना श्रवण-कीर्तन आदि नवविधा भक्ति भी सुफल प्रदान नहीं कर सकती। आश्रित या शरणागत हुए बिना श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि करने पर केवलमात्र सुकृति सञ्चित होती है, वास्तव में शुद्धभक्ति में अधिकार प्राप्त नहीं होता।

सौभाग्य से कृष्ण की कृपा से सद्‌गुरु की प्राप्ति होती है। जो सर्वस्व अर्पणकर श्रीगुरुपादपद्म का आश्रय ग्रहण करते हैं, उसे ही कृष्णदीक्षा और कृष्णशिक्षा प्राप्त होती है। आंशिक आदान-प्रदान से 'सर्वात्मनाश्रितपद' नहीं हुआ जाता।

प्रश्न 185—भगवद्दर्शन का पथ क्या है?

उत्तर—श्रीमद्भागवत 3/9/11 में कहा गया है—श्रुतेक्षित पथ ही भगवद्दर्शन का पथ है। श्रीधरस्वामी-टीका—**'श्रुतेन श्रवणे ईक्षितः'** पन्था ही भगवद्दर्शन का पथ है।

श्रवण के द्वारा शुद्ध हुए चित्त में ही भगवान का दर्शन होता है।

आदौ गुरुमुखे श्रुत, तत्परे ईक्षित—(श्रीविश्वनाथ टीका) शास्त्र कहते हैं —**भक्तेर इच्छाय कृष्णेर अवतार।** (चैतन्य-चरितामृत आदि-लीला 3/111) भागवत 3/9/11 में कहते हैं—**यद् यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय।** श्रीधर स्वामी टीका—भक्तगण अपने हृदय में जिस रूप की चिन्ता करते हैं, भगवान उसी रूप को उसके हृदय में प्रकाशित करते हैं।

प्रश्न 186—श्रीराधारानी कौन हैं?

उत्तर—श्रीराधा श्रीकृष्ण की नित्या पत्नी—कृष्णकान्ता शिरोमणि हैं। श्रीराधाजी की भाँति इतना प्रिय कृष्ण को अन्य कोई नहीं है।

श्रीकृष्ण की अपेक्षा श्रीराधाजी किसी अंश में कम नहीं हैं। श्रीकृष्ण ही आस्वादक और आस्वादित के रूप में दो देह धारणकर विलास करते हैं।

राधाकृष्ण एक आत्मा, दुइ देह धरि।
अन्योन्ये विलसे रस आस्वादन करि॥

(चैतन्य-चरितामृत आदि-लीला)

जिन कृष्ण का अपूर्व सौन्दर्य देखकर वे स्वयं ही मुग्ध हो जाती

हैं, उन कृष्ण की अपेक्षा श्रीमती राधिकाजी का सौन्दर्य अधिक नहीं होता, तो वे भुवनमोहन कृष्ण को मोहित नहीं कर सकती थीं। इसीलिए उनका एक नाम भुवनमोहनमोहिनी है। वे पूर्णचन्द्र कृष्ण की पूर्णिमा स्वरूपिणी हैं एवं कृष्ण की कान्ताओं में शिरोमणि–स्वरूपा–अंशिनी हैं। सेवक की ऐसी भाषा नहीं हो सकती, जिससे कि सेव्यवस्तु का सम्पूर्णरूप से वर्णन हो सके। किन्तु सेवक के तत्त्व का वर्णन करने में सेव्य ही समर्थ है। इसीलिए भगवान कृष्णचन्द्र स्वयं ही हमें श्रीमती राधारानी का तत्त्व बता सकते हैं। एक व्यक्ति और हैं, वे भी गोविन्दानन्दिनी के तत्त्व को बता सकते हैं—जो वृषभानुसुता एवं कृष्ण की साक्षात् सेवा करते हैं अर्थात् श्रीगौरसुन्दर के निजजन श्रीगुरुदेव भी श्रीमती राधिका के तत्त्व को बता सकते हैं।

श्रीकृष्णचन्द्र समस्त रसों और शोभा–सौन्दर्य आदि गुणों के मूल समाश्रय (सम आश्रय) हैं। वे समस्त ऐश्वर्य, वीर्य और ज्ञान आदि के मूल आश्रयतत्त्व हैं। अतः ऐसे पूर्णतम भगवान जिनके आश्रय और विषय हैं, ऐसी श्रीराधाजी कितनी बडी हैं, यह मनुष्य ज्ञान यहाँ तक कि अनेक मुक्त पुरुषों की धारणा से अतीत है। जिनके ऐश्वर्य और माधुर्य के प्रति सारा जगत लालायित तथा मोहित रहता है, ऐसे भुवनमोहन मदनमोहन कृष्ण स्वयं ही जिनके द्वारा मोहित हो जाते हैं, वे कितनी श्रेष्ठ होंगी, इसे भाषा के द्वारा दूसरे को नहीं समझाया जा सकता।

प्रश्न 187—श्रीगौरसुन्दर कौन हैं?

उत्तर—ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण ही श्रीगौरांग के रूप में विश्व में अवतीर्ण हुए हैं। श्रीगौरसुन्दर त्रिकालसत्य असल (वास्तव) वस्तु हैं। वे श्रीजगन्नाथ मिश्र के नन्दन अर्थात् आनन्दवर्धक हैं। श्रीजगन्नाथ मिश्र पिता के रूप में उनके सेवक हैं। श्रीगौरांगदेव परात्परतत्त्व स्वयं–भगवान हैं और कोई भी उनके समान या उनसे बड़ा नहीं है। वे असमोर्ध्व वस्तु हैं। पिता–माता आदि गुरुवर्ग भी गुरु–रूप में उन असमोर्ध्व परतत्त्व के सेवक ही हैं।

वे गौरसुन्दर अपने सेवकों के साथ, अपने पाल्यवर्ग के साथ, शक्तियों के साथ अद्वयज्ञान तत्त्व के रूप में नित्य विराजमान हैं। वे नित्य वस्तु हैं। अतः उनके भृत्यवर्ग, पाल्यवर्ग और शक्तिवर्ग सभी नित्य हैं। भृत्य का तात्पर्य उनके सेवकों से है तथा जो प्रीतिपूर्वक सेवा करने के कारण उनके पाल्यवर्ग में परिगणित हुए हैं, वे उनके पुत्र हैं। श्रीगौरसुन्दर अपने पाल्यवर्ग के पिता हैं। वे अपने पाल्यवर्ग के विशुद्धचित्त में उदित होकर श्रीनाम–प्रेम का प्रचार कर रहे हैं। ये ही उनके पुत्र हैं। ये ही श्रीगौरांग के निजवंश हैं। श्रीभगवान के ये अच्युत–गोत्रिय वंशधरों ने ही जगत में श्रीगौरसुन्दर के नाम–प्रेम प्रचार–धारा की रक्षा की है और कर रहे हैं।

श्रीगौरसुन्दर ब्रजेन्द्रनन्दन से अभिन्न हैं। वैध विचार से श्रीलक्ष्मीप्रिया देवी तथा श्रीविष्णुप्रिया देवी उनके कलत्र हैं। परन्तु वास्तव में भजन–विचार

से श्रीस्वरूप दामोदर, श्रीगदाधर पण्डित, श्रीरायरामानन्द आदि अन्तरंग भक्तगण उनके उज्ज्वल–मधुर–रसाश्रित त्रिकालसत्य कलत्र हैं। श्रीगौरसुन्दर ब्रजेन्द्रनन्दन से अभिन्न होने पर भी विप्रलम्भावतार हैं। श्रीकृष्ण सम्भोग–रसमय विग्रह हैं और श्रीगौरसुन्दर विप्रलम्भ–रसमय विग्रह हैं।

प्रश्न 188—श्रीगौर उपासना क्या है?

उत्तर—श्रीगौरसुन्दर का आदेश–पालन ही गौर–उपासना है। गौरभजन में दास्य रस की पराकाष्ठा है। मधुर रस में गौरसुन्दर युगल–आकार में हैं।

अनर्थयुक्त व्यक्ति कृष्ण के पास नहीं जा सकते। किन्तु परमौदार्यमय विग्रह श्रीगौरसुन्दर ने सार्वभौम भट्टाचार्य के समान विषयी को और जगाइ–माधाइ के समान अत्यन्त पापी व्यक्तियों को भी अनर्थों से मुक्तकर कृष्ण की आराधना में नियुक्त कर दिया था।

भाग्यवान् सज्जन लोग सद्गुरु का चरणाश्रय करके गुरु के आनुगत्य में गौर और कृष्ण की उपासना करते हैं। श्रीगुरुदेव भी गौर से अभिन्न विग्रह है। वे गौरांगदेव की प्रकाशमूर्ति हैं। वे आश्रयजातीय भगवत्–तत्त्व हैं। श्रीगुरुदेव भगवान होते हुए भी भगवत्प्रेष्ठ हैं, मुकुन्द के प्रियतम हैं। वे आश्रय–विग्रह, सेवक–भगवान हैं। उन्हें विषय–विग्रह या भोक्ता–भगवान मानना अन्याय और अपराध है।

प्रश्न 189—क्या मनुष्य जन्म पाकर हरिभजन करना आवश्यक है?

उत्तर—भाग्यक्रम से भगवान की कृपा से ही हमने मनुष्य जन्म प्राप्त किया है। यह जन्म सुदुर्लभ है। अगले जन्म में, हम मनुष्य होंगे कि नहीं, यह निश्चित नहीं है। क्योंकि दुर्भाग्य के कारण हम भूत, प्रेत, पिशाच, पशु, पक्षी, कीट भी हो सकते हैं। इन सब जन्मों में भगवान का भजन सम्भव नहीं है। अतः इस जन्म में जितने भी दिन बचे हैं, उन्हें दूसरे कामों में लगाना उचित नहीं है।

जीवन क्षणस्थायी है। यह मनुष्य जन्म अनित्य होने पर भी अर्थप्रद अर्थात् भक्तिप्रद है। अतः जीवन रहते–रहते ही शीघ्र से शीघ्र अर्थ अर्थात् परमार्थ प्राप्त कर लेना चाहिए।

मनुष्य स्वयं के प्रति ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शुद्र, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ ओर संन्यासी का अभिमान करते हैं। किन्तु बुद्धिमान व्यक्ति ऐसा मिथ्या अभिमान नहीं करते। क्योंकि हम भगवान के दास हैं। हम इस जगत की कोई वस्तु नहीं हैं।

शरीर के प्रति आत्मबुद्धि भ्रान्तिमात्र है। महाप्रभु ने कहा है—

जीवेर स्वभाव—कृष्णदास–अभिमान।
देहे आत्मज्ञाने आच्छादित सेइ ज्ञान॥

अहं–मम–भावकारी (शरीर के प्रति मैं और शरीर सम्बन्धी वस्तुओं के प्रति मेरी बुद्धिवाले) व्यक्तियों की जिह्वा पर हरिनाम उच्चारित नहीं होता।

हम कृष्ण बहिर्मुख जीव हैं। कृष्ण को भूलकर हम लोग माया के गाल में पड़े हुए हैं। ऐसी अवस्था में अहंकार का त्यागकर हरि–गुरु के पादपद्मों में शरणागति के अतिरिक्त आत्म–कल्याण का अन्य कोई उपाय नहीं है।

हाथी अपने को हाथी तथा कुत्ता अपने को कुत्ता मानता है, किन्तु मनुष्य को ऐसा न कर अपने स्वरूप का अभिमान करना चाहिए। अर्थात् मनुष्य को ऐसा अभिमान होना चाहिए कि मैं भगवान का दास हूँ। महाप्रभु ने कहा है—

जीवेर स्वरूप हय कृष्णेर नित्यदास।

अर्थात् जीव स्वरूपतः कृष्ण का नित्यदास है। प्रत्येक अणु–परमाणु में श्रीहरि अवस्थित हैं। वे मूर्ख से उसकी मूर्खता ओर पण्डित से उसका पाण्डित्य छुड़वाकर सभी को अपनी ओर आकर्षित कर रहे हैं। जिसकी भोग की वासना, बड़ा बनने की आशा ओर साधु के रूप में प्रशंसा पाने की अभिलाषा नहीं हैं, वे ही उनकी कथाओं को सुनेंगे। किन्तु जो इन सब तुच्छ वस्तुओं को चाहते हैं, उनके कानों में प्रभु की आवाज नहीं पहुँचेगी। लेकिन उन्हें यह जानना चाहिए कि मृत्यु अवश्यम्भावी है। **'अद्य वाब्दशतान्ते वा मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवः'** अर्थात् आज या सौ वर्षो के बाद प्राणियों की मृत्यु निश्चित है। हम चैतन्य वस्तु हैं। किन्तु चेतन होकर भी जब हम लोग भगवान के भक्तों के निकट न जाएँ, उनकी कथाओं को न सुनें, तो हमारा सर्वनाश अनिवार्य है।

मनुष्य जन्म के अतिरिक्त अन्य जन्म में हरिभजन का सुयोग नहीं है। अतः श्रेयः प्राप्त करने के लिए जीवन के अन्तिम समय तक जगत की समस्त बातों को छोड़कर हम केवलमात्र भगवद् भजन करेंगे। जगत के सभी लोग मेरा सर्वनाश करने के लिए प्रस्तुत हैं। इस बन्धुविहीन देश में आत्मीय–नामधारी सभी लोग भगवद् भजन के प्रतिकूल हैं। आत्मीय के रूप में एकमात्र वैष्णव के आश्रय के अतिरिक्त हमारा अन्य उपाय नहीं है। किसी मनुष्य के लिए कोई कार्य करने की आवश्यकता नहीं है—सब लोग मिलकर केवल मात्र भगवान के सेवकों की सेवा करें। विद्या, बुद्धि, पाण्डित्य, बल, अर्थ, सामर्थ्य के द्वारा सभी लोग भगवान की सेवा करें। 'तूर्णं यतेत' (तुरन्त प्रयास करो)—विलम्ब करने से असुविधा में पड़ जाएंगे।

अवैष्णव–धर्म ग्रहण करनेवाले का मंगल नहीं हो सकता। समस्त प्रकार के मंगल वैष्णव के चरणकमलों के आश्रय लेने वाले के लिए हस्तामलक (हथेली में आँवले) के समान है। अवैष्णव ने ही अपने गले में जन्म–मरण की माला धारण की है। हरिपरायण लोगों का कदापि मातृगर्भ में पुनर्जन्म नहीं होता है। वैष्णव की बात दूर रहे, वैष्णव के अलौकिक असामान्य चरणकमलों के दर्शन का सुयोग जिन्हें प्राप्त हुआ है, उनका भी पुनर्जन्म नहीं है।

प्रश्न 190—गुरु का कार्य कौन कर सकता है?

उत्तर—कृष्णतत्त्वविद् कृष्ण-भक्त ही गुरु हैं। कर्मी, योगी तथा निर्विशेष ब्रह्मज्ञानी अभक्त होने के कारण कभी भी गुरु नहीं हो सकते। Personality of Godhead के उपासक ही गुरु हो सकते हैं। परन्तु श्रीकृष्ण के सेवक अभिमानी (कृष्ण के उपासक) भी गुरु नहीं हो सकते, यदि वे अपने को अपने शिष्य का शिष्य न मानें। अपने प्रति वैष्णव अभिमान रहने पर गुरु नहीं हुआ जा सकता। इसलिए जो गुरु का कार्य करते हैं, वे कभी भी अपने को वैष्णव या गुरु न कहते हैं तथा न ही मानते हैं। इसीलिए हमारे श्रीगुरुदेव कभी भी अपने को गुरु नहीं कहते थे। क्योंकि जो स्वयं को वैष्णव कहता है, वह तो Branded अवैष्णव है।

इसीलिए महाजनों ने गाया है—

आमि त वैष्णव, ए बुद्धि हइले, अमानि ना हब आमि।
प्रतिष्ठाशा आसि, हृदय दूषिबे, हइब निरयगामी॥
तोमार किंकर, आपने जानिब, गुरु अभिमान त्यजि।
तोमार उच्छिष्ट, पद-जल-रेणु, सदा निष्कपटे भजि॥
निजे श्रेष्ठ जानि, उच्छिष्टादि दाने, हबे अभिमान भार।
ताइ शिष्य तब, थाकिया सर्वदा, ना लइब पूजा कार॥

अर्थात् हे गुरुदेव! यदि मेरी बुद्धि ऐसी हो गयी कि मैं वैष्णव हो गया हूँ, तो फिर मैं कभी भी अमानी (अपना मान न चाहने वाला) नहीं हो पाऊँगा। प्रतिष्ठा प्राप्ति की आशा मेरे हृदय में आकर उसे दूषित कर देगी, जिसके फलस्वरूप मैं नरकगामी हो जाऊँगा। इसलिए मैं गुरु होने का अभिमान त्यागकर सर्वदा ही अपने को आपका दास मानता रहूँगा ओर सदा ही आपका उच्छिष्ट प्रसाद, चरणामृत, चरणधूलि को ग्रहण करता रहूँगा। यदि मैं अपने को श्रेष्ठ मानकर दूसरों को अपना उच्छिष्ट प्रदान करूँगा, तो भयंकर अभिमान के भार से मैं दब जाऊँगा। इसीलिए मैं सदा ही आपका शिष्य होकर रहूँ तथा किसी की भी पूजा ग्रहण न करूँ।

महाभागवत ही गुरु होते हैं। जो सर्वत्र ही गुरु दर्शन करते हैं, ऐसे महाभागवत ही गुरु का कार्य कर सकते हैं। वे लघु को गुरु कर सकते हैं तथा सभी को कृष्णभक्त बना सकते हैं। स्वयं भक्त हुए बिना दूसरे को भक्त नहीं बनाया जा सकता। इसलिए गुरु होने का तात्पर्य है—कृष्णभक्त होना। जो गुरु होना चाहता है, उसे सब समय अपनी समस्त इन्द्रियों को कृष्ण की सेवा में नियुक्त करना होगा। गुरुनिष्ठ न होने पर अर्थात् गुरु के प्रति दृढ़निष्ठा न रहने पर गुरु का कार्य करने का अधिकार प्राप्त नहीं हो सकता।

महाभागवत तृण से दीन-हीन होते हैं, वे अपने को सबसे छोटा मानते हैं। शिष्य होकर मैंने बहुत दिनों तक दासता की, अब शिष्यगिरि अच्छी नहीं लगती, अतः अब मुझे गुरुगिरि करनी चाहिए—वे ऐसा कभी नहीं कहते। वे गुरु का कार्य तो करते हैं, परन्तु उनके हृदय में गुरु होने का अभिमान नहीं होता।

प्रश्न 191—सिद्धि कैसे प्राप्त होगी?

उत्तर—श्रीगुरु एवं श्रीगौरांग के चरणकमलों में शरणागत होकर निष्कपट रूप से भजन करने पर ही सिद्धि प्राप्त होगी। कपटी व्यक्ति कदापि सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता। भक्ति पथ में कपटता के लिए कोई स्थान नहीं है। कपटता भक्ति में भीषण बाधक है। खाते समय यदि मैं सभ्य दिखने के लिए कम खाऊँगा, तो मेरा पेट ही नहीं भरेगा। लोहार को इस्पात् (स्टील) ठगने से (नकली स्टील देने से) स्वयं ही ठगा जाऊँगा। इसलिए हरिभजन करते समय कपटता नहीं करनी चाहिए। अत्यन्त सरलतापूर्वक भगवान की सेवा करनी होगी। भगवान का वाक्य मेरे गुरुदेव तक है, मैं उस वाक्य का सरलता से पालन करूँगा, तभी सिद्धि होगी।

प्रश्न 192—असली शिष्य के विचार कैसे होते हैं?

उत्तर—गुरु ही जिनके जीवन हैं, गुरु ही जिनके आदर्श हैं, गुरुसेवा ही जिनका व्रत हैं, गुरु एवं कृष्ण में समान रूप से प्रीतियुक्त होने पर भी जो गुरु के अधिक पक्षपाती हैं, वे ही गुरुभक्त या असली शिष्य हैं। असली शिष्य दुर्बल नहीं होते, वे गुरु की कृपा के बल से बलवान् होते हैं। गुरु की कृपा या गुरुसेवा ही उनका बल या भरोसा है। असली शिष्य प्राण जाने पर भी कभी भी गुरु की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करते। श्रीगुरुदेव कृपापूर्वक उसे जिस सेवा का भार प्रदान करते हैं, उसे वह प्राण देकर भी पूरा करते हैं, इसीलिए वे गुरु की कृपा भी पाते हैं।

प्रश्न 193—क्या भक्तों का आश्रय लिये बिना भगवान की सेवा नहीं होती?

उत्तर—कदापि नहीं। भगवान के भक्तों का आश्रय ग्रहण किये बिना भगवान के श्रीचरणकमलों का आश्रय ग्रहण नहीं किया जा सकता। भक्तों का संग उनके आश्रय बिना हमें भगवान की प्राप्ति नहीं हो सकती। हमलोग पतित जीव हैं। हम अपना मंगल स्वयं नहीं कर सकते। जब तक हमलोग पतितपावन अर्थात् पतितों को भी पावन करने वाले भक्तों के चरणों का आश्रय ग्रहण नहीं करेंगे, तब तक हमारा कल्याण सम्भव नहीं है। भक्तों के संग के अतिरिक्त मंगल का अन्य कोई उपाय नहीं है।

प्रश्न 194—दीक्षा का स्वरूप क्या है?

उत्तर—आदौ सम्बन्ध ज्ञान। अर्थात् भक्तिमार्ग में सर्वप्रथम सम्बन्ध ज्ञान की आवश्यकता होती है। सम्बन्ध ज्ञान का दूसरा नाम ही दिव्यज्ञान या दीक्षा। केवल मन्त्र का उपदेश ही दीक्षा नहीं है। बल्कि जिसके द्वारा दिव्यज्ञान प्राप्त होता है, उसी का नाम दीक्षा है। जीव अपने आप सैकड़ों ग्रन्थों के पाठ के द्वारा या अपनी इच्छानुसार भजन का अभिनय करके भी अपना कल्याण नहीं कर सकता। गुरु ही कृपापूर्वक निष्कपट एवं

सेवापरायण शिष्य को दिव्यज्ञान प्रदान करते हैं। जो अपनी स्वतन्त्रता का परित्याग कर गुरु के निर्देशानुसार चलते हैं, वे ही गुरुकृपा प्राप्ति के अधिकारी होते हैं। वे ही दिव्यज्ञान प्राप्तकर धन्य या कृतार्थ हो जाते हैं।

प्रश्न 195—अब हमारा प्रधान कर्तव्य क्या है?

उत्तर—हम प्रत्येक जन्म में ही विषयों को प्राप्त करेंगे, भोक्ता होकर कर्मफल का भोग भी भोगेंगे। उन समस्त भोगों को भोगने के लिए तो बहुत से जन्म हैं, परन्तु जो काम सबसे बड़ा है भगवान की सेवा, जो मनुष्य जन्म के अतिरिक्त किसी भी जन्म में सम्भव नहीं है, हमें उठकर तत्परता से उसमें लग जाना चाहिए। यदि हम देवता होते, तो हमें हरिकथा सुनने का अवसर या समय प्राप्त नहीं हो पाता। अतः जीवन रहते-रहते ही जिससे हमें भगवान की प्राप्ति हो जाय, इसके लिए हमें जी-जान से चेष्टा करनी चाहिए। क्योंकि भगवान की सेवा के अतिरिक्त जीव के लिए बड़ा कर्तव्य और कोई नहीं है।

प्रश्न 196—ब्रह्मचारी का क्या कर्तव्य है?

उत्तर—ब्रह्मचारी संसार में प्रविष्ट नहीं होते। संसारी लोगों का कष्ट देखकर वे पहले ही सतर्क हो जाते हैं। परन्तु कुछ लोग ऐसा सोचते हैं कि मुझे कौन बाँध सकता है? जो भी हो, संसार में प्रविष्ट हो ही जाता हूँ, सुख या दुःख में कैसे भी जीवन कट ही जायेगा। ऐसा विचारकर अनेक लोग विपत्ति में पड़ जाते हैं।

भगवान की सेवा की ही आवश्यकता है। उसी से ही मंगल होता है। इससे बड़ा कर्तव्य अन्य कुछ भी नहीं हैं। सेवा में ही शान्ति है, सेवा में ही सुख है, सेवा ही जीव का नित्यधर्म है। परन्तु भगवान की सेवा छोड़कर अपने सुख के लिए चेष्टा करने के कारण ही दुःखों की प्राप्ति होती है। इसलिए माया के संसार में प्रविष्ट न होकर कृष्ण के संसार में प्रविष्ट होने से ही कल्याण होगा।

प्रश्न 197—जागतिक शान्ति या अशान्ति कैसी है?

उत्तर—भगवान एक हैं, किन्तु मनुष्य आदि जीव बहुत हैं। बहुतों के साथ सम्पर्क रहने के कारण एक के साथ (भगवान के साथ) हमारा सम्पर्क कम हो गया है। परन्तु चित्-जगत में सभी एक की (भगवान की) सेवा में व्यस्त रहते हैं। वहाँ पर शान्ति या अशान्ति का कोई प्रश्न ही नहीं है। जिसे हम शान्ति या अशान्ति समझते हैं, वास्तव में हमें इन दोनों की उपलब्धि तो हमारी भोगपिपासा के कारण ही होती है। भोगों के सामयिक अभाव का नाम अशान्ति है तथा सामयिक भोगों की प्राप्ति को ही हम शान्ति कहते हैं। किन्तु हम यह विचार नहीं कर पाते कि वास्तव में क्षणिक शान्ति तो अशान्ति की ही पूर्व अवस्था है।

शान्ति–अशान्ति या सुख–दुःख दोनों ही परिवर्तनशील हैं। दुख का अनुभव कम होने पर सुख की उपलब्धि होती है, तथा सुख की अनुभूति कम होने के कारण दुःख का अनुभव होता है। अनेक लोग यह देखते या जानते हुए भी कि सुख के भीतर दुःख छिपा हुआ है, प्राप्त हुए भोगों को भोग ही लूँ—ऐसी कामना से प्रेरित होकर दुःख या अशान्ति के यूपकाष्ठ पर (जिसमें बकरे की गर्दन फँसाकर उसकी बलि दी जाती है) अपनी बलि दे देते हैं। इस प्रकार की असहिष्णुता या धैर्य–शून्यता ही हमारे लिए अनेक प्रकार की असुविधाएँ उत्पन्न कर देती है। इसलिए हमें सहिष्णु और धैर्यशील होना आवश्यक है। कैसी भी विपत्ति क्यों न आ जाय, मन में खूब धैर्य रखना चाहिए। मार्ग में जाते समय शराब की दुकान देखने पर शराब पीने के लिए उस ओर दौड़ना, किसी धनी व्यक्ति का धन देखकर धनी होने का यत्न करना, सुन्दर रूप देखकर उस रूप को भोगने के लिए उसके पीछे दौड़ना, किसी का पाण्डित्य देखकर पण्डित होने के लिए उत्कण्ठित हो जाना, ये सब अधैर्य के लक्षण हैं।

प्रश्न 198—साधक की कथा और सिद्ध की कथा में क्या वैशिष्ट्य है?

उत्तर—अपने अनुभव की बातों को या अपने स्वाभाविक आर्तिकी बातों को स्वयं वर्णन करना तथा दूसरे के अनुभव की या आर्ति (विरह) की बातों को सुनकर या दूसरे की ओर से कहना, दोनों ही सम्पूर्णरूप से अलग हैं। जो अपना case स्वयं ही plead करता है, वह जैसे सब बातें अकृत्रिम रूप से या सुष्ठुरूप से कह सकता है, दूसरा व्यक्ति वैसा नहीं कर सकता। साधक और सिद्ध दोनों की कथाओं में यही वैशिष्ट्य है।

प्रश्न 199—महाप्रभु गोपी गोपी क्यों जपा करते थे?

उत्तर—लोकशिक्षक भगवान श्रीचैतन्यदेव 'गोपी' नाम क्यों जपते थे, जड़बुद्धि सम्पन्न व्यक्ति इसे नही समझ सकता। आश्रयविग्रह के नाम कीर्तन के बिना कृष्णनाम नहीं हो सकता। आश्रयविग्रह श्रीगुरुदेव के आनुगत्य के बिना विषयविग्रह श्रीकृष्ण की सेवा नहीं हो सकती, यह शिक्षा प्रदान करने के लिए महाप्रभु ने ऐसी लीला की। **'राधा भजने यदि मति नाहि भेला। कृष्ण भजन तब अकारण गेला॥'** अर्थात् यदि किसी की राधाजी के भजन में मति नहीं है, तो उसका कृष्णभजन व्यर्थ ही चला जाता है।

प्रश्न 200—सेवोन्मुख कर्ण के बिना क्या श्रवण नहीं हो सकता?

उत्तर—नहीं! हरेकृष्ण नाम predominating Agent तथा कर्ण predominated Agent हैं। अर्थात् हरेकृष्ण नाम नियामक या प्रभु हैं और कर्ण नियम्य या वश्य है। कर्ण जहाँ पर नियामक या प्रभु हैं, वहाँ पर नामश्रवण या कीर्तन श्रवण नहीं होता। जो कर्ण हरिकीर्तन को भोग करना

या मापना चाहते हैं, ऐसे कर्णों के द्वारा हरिकीर्तन या हरिनाम नहीं सुना जा सकता। सेवोन्मुख कर्ण या सेवोन्मुख इन्द्रिय के द्वारा ही सेव्य की सेवा होती है। भोगोन्मुख कर्ण के द्वारा जो श्रवण का अभिनय होता है, वह अपराध है, सेवा नहीं। इसीलिए श्रीरूप गोस्वामी प्रभु ने कहा है—

अतः श्रीकृष्णनामादि न भवेद् ग्राह्यमिन्द्रियैः।
सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यदः॥

अर्थात् श्रीकृष्ण के नाम, रूप, गुण, लीला आदि को इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता। जब साधक की समस्त इन्द्रियाँ सेवान्मुख हो जाती हैं, उस समय वे कृष्णनामादि साधक की जिह्वा आदि में स्वयं स्फुरित हो जाते हैं।

प्रश्न 201—अधोक्षज और अप्राकृत में क्या वैशिष्ट्य है?

उत्तर—भगवान को भक्ति के द्वारा ही अनुभव किया जा सकता है। भक्ति के अतिरिक्त अन्य किसी भी उपाय से अधोक्षज वस्तु भगवान को नहीं जाना जा सकता। भगवान या भक्त की कृपा से ही भक्ति प्राप्त हो सकती है। भगवान की कृपा के बिना भगवान को जानना सम्भव नहीं है। "ईश्वरेर कृपालेश हय त याहारे। सेइ त ईश्वर तत्त्व जानिबारे पारे॥" अर्थात् जिस पर भगवान की लेशमात्र भी कृपा हो जाती है, केवल वही उन्हें जान सकता है। यदि Personality of Godhead ignored हुए, तो भगवान की भक्ति कभी भी नहीं हो सकती। क्योंकि Personality of Godhead is the indispensable factor of भक्ति।

अनर्थोपशमं साक्षाद्भक्तियोगमधोक्षजे—इस शास्त्रवाक्य से जाना जाता है कि अधोक्षज (भगवान) की सेवा से ही अनर्थ दूर हो जाते हैं। इसीलिए अधोक्षज चतुर्भुज हैं। वे अपने अस्त्रों के द्वारा जीव के अनर्थों को नष्ट कर देते हैं। अधोक्षज वस्तु में मर्यादा का विचार है। वहाँ पर ईश्वर बुद्धि प्रबल होती है।

अप्राकृत वस्तु बाह्यरूप से प्राकृत के समान ही होती है, किन्तु प्राकृत नहीं है। यहाँ पर ईश्वर बुद्धि नहीं है, बल्कि अपनत्व बुद्धि प्रबल है। अप्राकृत के विचार में अनर्थ नहीं है। सम्पूर्ण रूप से अनर्थों के दूर होने पर ही अप्राकृत का विचार उपस्थित होता है। अप्राकृत वस्तु द्विभुज-मुरलीधर हैं। उनकी सेवा विश्रम्भ या प्रीतिपूर्वक ही होती है। पर, व्यूह, वैभव, अन्तर्यामी और अर्चा—इस विचार से परतत्त्व एकमात्र कृष्ण के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं हो सकता। परतत्त्व के लिए ही अप्राकृत शब्द का प्रयोग होता है। व्यूह और वैभव-तत्त्व में अधोक्षज शब्द, अन्तर्यामी तत्त्व में अपरोक्ष शब्द एवं अर्चा तत्त्व में परोक्ष तथा प्रत्यक्ष शब्द का प्रयोग होता है।

प्रश्न 202—क्या व्यक्तिगत कथा के द्वारा अधिक मंगल होता है?

उत्तर—अवश्य ही Platform speaker की अपेक्षा जो प्रत्येक को व्यक्तिगत रूप से उपदेश प्रदान करते हैं, वे लोगों का अधिक व्यक्तिगत उपकार कर सकते हैं। Platform speaker साधारण रूप में जो कथाएँ करते हैं, उनसे कई बार सभी समस्याओं का समाधान या प्रत्येक व्यक्ति का मंगल नहीं होता। कालेजों या स्कूलों में साधारण रूप में वक्तृता सुनने की अपेक्षा coaching class private tutorial class में व्यक्तिगत defect अधिक रूप में संशोधित होते हैं। इसलिए जो लोगों को पृथक् पृथक् रूप में उपदेश प्रदान करते हैं, उसके द्वारा वे लोगों का अधिक स्थायी उपकार कर सकते हैं।

प्रश्न 203—शुद्ध कीर्तन क्या है?

उत्तर—कीर्तन श्रवण के ऊपर निर्भर करता है। जिसके द्वारा अपना या दूसरों का इन्द्रिय तर्पण होता है, वह कीर्तन या भक्ति नहीं है। भगवान के सुख के लिए जो कीर्तन होता है, वही शुद्ध कीर्तन है। श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा है—श्रीहरि का कीर्तन ही Cent percent education अर्थात् हरिकीर्तन ही असली शिक्षा है। हरिकथा जितनी सुनी जाय, उतना ही मंगल होगा।

प्रश्न 204—क्या भक्ति का प्रयोग केवल भगवान के लिए ही होता है?

उत्तर—भगवान विष्णु किसी के भी Order Supplier नहीं हैं। वे तो Order Suppliers के प्रभुओं के भी प्रभु हैं। विष्णु ही सबके एकमात्र सेव्य (प्रभु) होने के कारण भक्ति शब्द का उपयोग केवल विष्णु के लिए ही होता। यद्यपि अन्यान्य देवताओं के पूजक देवताओं की पूजा को भक्ति कहते हैं, परन्तु अन्यान्य देवताओं के लिए भक्ति शब्द का प्रयोग नहीं हो सकता। अन्यान्य देवताओं की पूजा से हम धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि चाहते हैं, किन्तु विष्णु की पूजा के समय विष्णु क्या चाहते हैं, केवल इसी का ध्यान दिया जाता है।

भगवान, भक्ति और भक्त एक सूत्र में गुँथे होते हैं। भक्ति ही भगवान के साथ भक्त का योगसूत्र है। भगवान भक्त के उपास्य हैं और भक्त भगवान के सेवक हैं। देवता भगवान नहीं हैं, वे जीव तत्त्व हैं, सेवक तत्त्व हैं। शास्त्र कहते हैं—

एकला ईश्वर कृष्ण आर सब भृत्य।
यारे यैछे नाचाय से तैछे करे नृत्य ॥

(चैतन्य–चरितामृत)

अर्थात् कृष्ण ही एकमात्र ईश्वर हैं, बाकी सब सेवक हैं। वे जिसे जैसे नचाते हैं, वह वैसे ही नाचता है।

हरिरेव सदाराध्य सर्वदेवेश्वरेश्वरः।
इतरे ब्रह्म–रुद्राद्या नावज्ञेयाः कदाचन॥

यस्तु नारायणं देवं ब्रह्म रूद्रादि-दैवतैः।
समत्वेनैव वीक्षेत स पाषण्डी भवेद् ध्रुवम्॥

(पद्मपुराण)

हरि ही सदा आराध्य हैं। वे समस्त देवताओं के ईश्वरों के भी ईश्वर हैं। परन्तु कभी भी अन्यान्य देवताओं की अवज्ञा भी नहीं करनी चाहिए। जो ब्रह्म, रूद्र आदि देवताओं को नारायण के समान मानते हैं, अवश्य ही वे पाषण्डी हो जाते हैं।

शास्त्रों में पूर्णवस्तु भगवान श्रीहरि की सेवा को ही भक्ति कहा गया है। किन्तु आजकल भक्ति शब्द का अनेक प्रकार से अपव्यवहार हो रहा है। जैसे—पितृभक्ति, राजभक्ति या पाठशाला की गुरुभक्ति। भक्ति किसे कहते हैं, किस वस्तु के माध्यम से भक्ति प्राप्त की जा सकती है, इसका विचार ठीक-ठीक न होने पर हमें असुविधा में पड़ जाते हैं। समस्त इन्द्रियों से हृषीकेश श्रीहरि की सेवा को ही भक्ति कहते हैं। शास्त्र कहते हैं—

सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम्।
हृषीकेण हृषीकेश सेवनं भक्तिरुच्यते ॥

(नारदपञ्चरात्र)

भगवान श्रीगौरांगदेव ने भी कहा है—

अन्य वाञ्छा, अन्य पूजा छाड़ि ज्ञान कर्म।
आनुकूल्ये सर्वेन्द्रिय कृष्णानुशीलन ॥
एइ शुद्धभक्ति, इहा हैते प्रेमा हय।
पञ्चरात्रे, भागवते एइ लक्षण कय॥

(चैतन्य-चरितामृत)

अर्थात् पञ्चरात्र तथा भागवत में शुद्धभक्ति के लक्षण बताते हुए कहा गया है कि भगवान की सेवा के अतिरिक्त सभी प्रकार की वाञ्छाओं, अन्यान्य देवी-देवताओं की पूजा और ज्ञान-कर्म को छोड़कर समस्त इन्द्रियों के द्वारा अनुकुलरूप में कृष्ण की सेवा को ही शुद्ध भक्ति कहते हैं। इसी शुद्ध भक्ति से प्रेम उत्पन्न होता है—

श्रीमद्भागवत में कहा गया है—

मद्‌गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गंगाम्भसोऽम्बुधा॥
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्यूदाहृतम्।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्ति पुरुषोत्तमे॥

(भागवत 3.29.10-12)

भगवान श्रीहरि कह रहे हैं कि जिस प्रकार गंगा का जल अविच्छिन्न गति से समुद्र में मिल जाता है, ठीक वैसे ही जब मेरे गुणों का श्रवण करने मात्र से साधक का मन अविच्छिन्न गति से मुझ में लग जाता है, तो उसे निर्गुण भक्ति कहते हैं। पुरुषोत्तम मेरे प्रति वह भक्ति अहैतुकी अर्थात् धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि की इच्छा से रहित और अप्रतिहता

होती हैं। अर्थात् नैरन्तर्यमयी होती है।

प्रश्न 205—हमारे प्रभु कौन हैं?

उत्तर—सब समय इसे स्मरण रखना चाहिए कि कृष्ण ही सबके एकमात्र प्रभु या सेव्य हैं तथा मैं कृष्ण का दास या सेवक हूँ। दूसरे लोग मेरी सेवा करेंगे, ऐसी दुर्बुद्धि से यदि हम नहीं बच सके, तो हमारा कल्याण नहीं हो सकता।

प्रत्येक व्यक्ति ही अपने को सबसे अधिक दीन-हीन जानकर दूसरे मठवासी वैष्णवों की सेवा करेंगे। कहीं हम यह न भूल जाएँ कि सब समय कृष्ण की सेवा ही हमारा कर्तव्य है। परन्तु कृष्णसेवा की अपेक्षा गुरु-वैष्णवों की सेवा अधिक प्रयोजनीय है।

प्रश्न 206—क्या नामकीर्तन अवश्य करणीय है?

उत्तर—अवश्य ही। परं विजयते श्रीकृष्णसंकीर्तनम्—यही गौड़ीय मठ का एकमात्र उपास्य है। श्रीनाम के उच्चारण को ही भक्ति समझें। हरिनाम का अन्य कोई Alternative नहीं है। जो लोग प्रतिदिन लाख नाम ग्रहण नहीं करते हैं, उनकी दी हुई किसी भी वस्तु को भगवान् स्वीकार नहीं करते। प्रत्येक भगवद्भक्त गुरु के आनुगत्य में प्रत्यह लाख नाम ग्रहण करेंगे, अन्यथा विविध विषयों में आसक्त होकर भगवत् सेवा करने में असमर्थ हो जायेंगे। इसीलिए श्रीगौड़ीय मठ के आश्रित सभी भक्त लाख नाम ग्रहण करते हैं। नामाचार्य श्रीगुरुदेव के निष्कपट आनुगत्य और प्रीतिपूर्वक गुरुसेवा के बिना हरिनाम नहीं होता है, इसे भी सदैव स्मरण रखें।

अपराधों का परित्याग करके गुरु के आनुगत्य में हरिनाम ग्रहण की इच्छा करने पर सदैव हरिनाम करते-करते अपराध दूर होंगे। हमारे दुर्भाग्य को हटाने के लिए श्रीनामभजन के बिना कोई अन्य उपाय नहीं है। जो सब दुर्भागे व्यक्ति 'एकमात्र भजन' शब्दवाच्य श्रीनामकीर्तन के प्रति उदासीन होकर अन्य भजन का छल करते हैं एवं गुरु-वैष्णव-सेवा त्यागकर नामभजन या श्रीमद्भागवत पाठ आदि करने का अभिनय करते हैं, वे सब दाम्भिक होने के कारण उन लोगों का कदापि मंगल नहीं हो सकता।

प्रश्न 207—संन्यासी भक्त के श्रीचरणों में क्या हाथ देना (स्पर्श करना) उचित है?

उत्तर—इस भोगोन्मुख शरीर या पाप शरीर को लेकर साधु-गुरु के श्रीचरणों में हाथ देना उचित नहीं है। श्रीचरणों में हाथ देने पर यदि साधु-गुरु असन्तुष्ट या दुःखित होते हैं, तब तो अमंगल ही हुआ। संन्यासी भक्त लोग ये सब बिल्कुल पसन्द नहीं करते। साधु-गुरु के श्रीचरणों में हाथ देना लोगों की एक बीमारी या ख्याल हो गया है। प्रत्येक कार्य में गुरु कृष्ण सुखी हो रहे हैं या नहीं, उसकी ओर हमारी तीव्र दृष्टि रहनी चाहिए, तब

तो मंगल होगा। अन्यथा अपने पैरों पर स्वयं कुल्हाड़ी मारना हो जाएगा।

जो लोग भावप्रवणता या उत्तेजना के वशीभूत होकर मेरे जैसे संन्यासी का चरणस्पर्श करने के लिए प्रस्तुत हैं, उन लोगों को मैं अपने गुरुदेव की भाषा में कह रहा हूँ—वे लोग साधु की पदधूलि ग्रहण करने के लिए हाथ फैलाने का साहस क्यों करेंगे? ऐसा दुःसाहस क्या अच्छा है? उन लोगों में ऐसी क्या योग्यता है, जिससे वे अपने को इस प्रकार योग्य या बड़ा मान सकेंगे?

साधु-गुरु की सेवा या सुख की ओर दृष्टि नहीं है, ऐसे गृहासक्त लोगों का साधु-गुरु का चरणस्पर्श करना अन्याय है, यह सहज ही अनुमेय है।

आपलोग यदि दूर से प्रणाम आदि करते हैं, तब हम भी दूर से प्रणाम कर सकते हैं। पुनः यदि पैर छूने की चेष्टा लेकर जबरदस्ती होने लगी, स्थूल बातों में ही चित्त आकर्षित हो जाएगा, यह तो मंगल के स्थान पर अमंगल को ही आवाहन करना हुआ हितके विपरीत फल हुआ। अतः इस प्रकार अपराधमय कार्य से मंगलाकांक्षी व्यक्तिमात्र को ही सावधान होना चाहिए।

प्रश्न 208—शिष्य को क्या करना चाहिए?

उत्तर—वास्तव गुरु किसी को भी शिष्य नहीं करते, वे सभी को गुरु करते हैं, बहिर्मुख को कृष्णोन्मुख करते हैं, सभी को कृष्णभक्त करते हैं, सभी को कृष्णसेवा में नियुक्तकर कृष्ण का सुखविधान करते हैं। गुरु का दर्शन, क्रिया आदि—सभी भक्ति हैं। गुरु का सर्वत्र गुरुदर्शन—कृष्ण-सम्बन्ध दर्शन है, उनमें लघुदर्शन, भोग्यदर्शन या विश्वदर्शन नहीं है। मेडीकल प्रोफेसर जिस प्रकार छात्र तैयार न कर डॉक्टर तैयार करते हैं, गुरु का कार्य भी उसी प्रकार का है।

यदि वैष्णव गुरुगिरी का कार्य नहीं करते, तो पारमार्थिक वैष्णववंश रुक जाएगा। पुनः यदि वे गुरु का कार्य करते हैं, तो अवैष्णव हो जाते। इसीलिए अयोग्य होकर गुरु का कार्य करना ठीक नहीं है, उसमें अमंगल या अधःपतन ही होता है। गुरु में गुरु अभिमान नहीं होता है, उनके हृदय में भगवद्-दास अभिमान ही प्रबल रूप से है। किन्तु गुरु यदि सोचते हैं—मैं गुरु हैं, तब गुरु शब्द के प्रथम वर्ण से उ-मात्रा लुप्त हो जाती है (अर्थात् गरु शब्द बनता है, बंगला भाषा में जिसका अर्थ गाय, बैल आदि है) असल गुरु 24 घंटों में से 24 घंटे ही भगवत् सेवा में व्यस्त रहते हैं। कृष्णसेवा के अतिरिक्त उनका कोई अन्य कार्य नहीं हैं। गुरुसेवाप्राण, गुरुनिष्ठ भक्त के अतिरिक्त गुरु का कार्य करने के लिए दूसरे का अधिकार नहीं है।

प्रश्न 209—हमलोग विषयों को किस प्रकार स्वीकार करेंगे?

उत्तर—हम यथायोग्य विषय स्वीकार करेंगे, अधिक विलासिता में नहीं जायेंगे, अथवा जिससे आत्महत्या हो जाए शरीर को ऐसा पीड़ित भी नहीं करेंगे। हम सदैव हरिकीर्तन के अनुशीलन में, उसके अनुकूल जीवन यापन करेंगे। शब्दब्रह्म की सेवा के अतिरिक्त जीव के मंगल की सम्भावना नहीं है। इसलिए वेदान्त में कहा गया है—**अनावृत्तिः शब्दात्, अनावृत्तिः शब्दात्।**

वस्तुतः हरिकीर्तन के द्वारा ही श्रीहरि का इन्द्रियतर्पण होता है, जिससे सबका मंगल होता है। बद्धजीव की इन्द्रियतृप्ति के द्वारा व्यष्टि या समष्टि किसी का भी असल उपकार या मंगल नहीं होता है।

हम भगवत् सेवा के लिए ही शरीर की रक्षा करेंगे। अपने इन्द्रियतर्पण के लिए शरीर की रक्षा कर क्या लाभ होगा? उससे तो नरक में ही जायेंगे।

जितना विषय ग्रहण करने से हरिसेवा का सुयोग होता है, उतना ही विषय ग्रहणीय है, अधिक या कम नहीं।

प्रश्न 210—सद्धर्म क्या है?

उत्तर—भागवतधर्म—भक्तिधर्म या भगवत्सेवाधर्म ही सद्धर्म है। भगवत्सेवा और भक्तसेवा दोनों ही सद्धर्म हैं। इसके अतिरिक्त अन्य सभी असद्धर्म—अनित्यधर्म या अनात्मधर्म हैं। सद्धर्म भगवान की भक्ति ही आत्मधर्म, नित्यधर्म या सनातन धर्म है।

सभी भगवान के सेवक हैं—यह विचार आ जाने पर समदर्शी हो सकते हैं, बड़े-छोटे की भेदबुद्धि से मुक्त हो सकते हैं। सब प्रकार से शान्तिप्रद पथ का अनुसरण कर जो मंगल प्राप्त होता है, वह मंगल अन्य कुछ नहीं, भगवत् सेवा ही है।

भगवद् भक्ति ही सनातन धर्म, नित्यधर्म, परमधर्म या आत्मधर्म है। भक्ति के बिना जीव का जीवन व्यर्थ है। भगवान की भक्ति के अतिरिक्त अन्य सभी चेष्टाएँ प्रभु होने की चेष्टाएँ हैं। एक ओर भक्ति है और दूसरी ओर प्रभुत्व-प्राप्ति की चेष्टारूप कर्म, ज्ञान, योग और अन्याभिलाष हैं। हरिनाम कीर्तन भागवत धर्म या सद्धर्म की पराकाष्ठा है। कृष्णनाम के अतिरिक्त जगत में भव-व्याधि की दूसरी कोई औषधि नहीं है।

प्रश्न 211—कर्ताभजा क्या है?

उत्तर—कर्ताभजा एक अपसम्प्रदाय है, ये लोग वैष्णव या भक्त नहीं हैं। इनका विचार है—गुरु ही स्वयं कृष्ण अर्थात् भोक्ता भगवान हैं। अतः कृष्ण आराधना की कोई आवश्यकता नहीं है। यह पाखण्ड मतवाद है।

गुरुदेव कृष्ण तो हैं, किन्तु भोक्ता भगवान नहीं हैं, वे सेवक-भगवान, आश्रयविग्रह या सेवाविग्रह हैं। गुरु कृष्ण होने पर भी कृष्णप्रेष्ठ हैं। कृष्ण ही अपनी सेवा स्वयं शिक्षा देने के लिए गुरुरूप में विश्व में प्रकटित हैं। गुरु विषयविग्रह या शक्तिमान् तत्त्व नहीं हैं, वे कृष्ण की पूर्णशक्ति

आश्रयजातीय ब्रह्मवस्तु हैं। वे सेवाविग्रह, भक्तिविग्रह, आश्रयविग्रह या सेवक भगवान होने के कारण उनमें भोगबुद्धि लेशमात्र भी नहीं है। इसीलिए गुरुनिष्ठ वैष्णवगण गुरु के आनुगत्य में कृष्णसेवा करते हैं, गुरु के होकर कृष्णसेवा को अपना जीवन बनाते हैं। वे लोग कदापि गुरु को रासविहारी, गोपीनाथ या राधानाथ नहीं समझते।

प्रश्न 212—लोगों को किस प्रकार सम्मान देना होता है?

उत्तर—भक्तगण कृष्णसम्बन्ध के अतिरिक्त किसी को भी सम्मान देने के पक्ष में नहीं हैं। वे लोग प्रत्येक वस्तु को अन्तर्यामी सूत्र से कृष्णाधिष्ठान जानकर देवता, मनुष्य आदि समस्त जीवों को भगवत् सेवक समझकर सम्मान देते हैं। इसलिए श्रीमन्महाप्रभु ने कहा है—

उत्तम हञा वैष्णव हबे निरभिमान।
जीवे सम्मान दिबे जानि, कृष्ण-अधिष्ठान॥

अर्थात

उत्तम होकर वैष्णव होंगे निरभिमान।
जीवों को सम्मान देंगे, जानकर कृष्ण के अधिष्ठान॥

प्रश्न 213—दीक्षा ग्रहण के बाद क्या किसी की विषयों के प्रति आसक्ति रहती है?

उत्तर—कदापि नहीं। दिव्यज्ञान प्राप्ति का नाम है दीक्षा। श्रीभगवान अधोक्षज वस्तु हैं, मैं उन भगवान का सेवक हूँ, भगवान की सेवा के अतिरिक्त मेरा अन्य कोई कार्य नहीं है या नहीं हो सकता यही दिव्यज्ञान या असली दीक्षा है। जहाँ इस ज्ञान का अभाव है, वहीं अज्ञानता है अर्थात् दिव्यज्ञान नहीं हुआ दीक्षा नहीं हुई, यह समझना होगा। 'दीक्षा' शब्द को समझने में ही गड़बड़ी हो जाती है। गुरु के निकट अभिगमन न कर 'मैंने सद्गुरु से दीक्षा ली है' मुख में यह कपट अभिमान कर रहा हूँ, इसीलिए समस्त अनर्थ उपस्थित हुए है। श्रीगुरुदेव के निकट दीक्षा अर्थात् दिव्यज्ञान प्राप्त करने के बाद विषय में अभिनिवेश किस प्रकार रह सकता है? संसार में उन्नति करने की इच्छा भी किस प्रकार जग सकती है? स्वतन्त्र दाम्भिक व्यक्तिगण सचमुच गुरु के निकट न जाकर अर्थात् दिव्यज्ञान या सम्बन्धयुक्त न होकर ही 'गुरु के निकट दीक्षा प्राप्त की है' इस प्रकार निरर्थक वाक्य बोलते रहते हैं। हम गुरुदेव को गुरु अर्थात् ईश्वर न समझकर कार्य में अपने शिष्य या शासन योग्य वस्तु में बदल देते हैं, उनको मनुष्य समझकर अपराधी हो जाते हैं। गुरु सेव्य वस्तु हैं। गुरु से अधिक सेव्य कोई नहीं है। भगवत्सेवा से भी गुरुसेवा श्रेष्ठ है। गुरुसेवा के समान सर्वश्रेष्ठ धर्म अन्य कुछ भी नहीं है—इन सभी बातों को हम शास्त्र में सुनते हैं और मुख से भी बोलते हैं, किन्तु देहासक्ति, गृहासक्ति या स्वतन्त्रता प्रबल होने के कारण हम उसे (गुरुसेवा को) भूल कर अपनी सेवा और गृहसेवा को ही बड़ा

कर्तव्य मानकर उसी में ही व्यस्त हो जाते हैं। जिस प्रकार बालक क्रीड़ा में प्रमत्त रहने के कारण कर्तव्यविमूढ़ हो जाता है, खाना-पीना, लिखाई-पढ़ाई आदि सबकुछ भूल जाता है, हमारी अवस्था भी उसी प्रकार की हो गयी है। दीक्षाग्रहण के बाद भी हमारी भगवत् सेवा प्रवृत्ति जग नहीं रही है, प्रतिष्ठा और अर्थसंग्रह की स्पृहा एवं स्वजनों की सेवा की प्रचेष्टा ही हमारी नाक में रस्सी बाँधकर चारों ओर घुमा रही है। सौभाग्य से सेवा का सुयोग प्राप्तकर भी हम उसे पैरों से ठोकर मार रहे हैं। इसका परिणाम कैसा विषमय है, उसे बाद में समझ पाने पर अवश्य ही हताश होंगे, इसमें सन्देह नहीं है। साधुगुरु की बात न सुनकर वे लोग और क्या करेंगे?

प्रश्न 214—कर्म और ज्ञान क्या मेरा धर्म है?

उत्तर—नहीं। कर्मी होना या ज्ञानी होना जीव का प्रयोजन विषय नहीं है। कर्म और ज्ञान जीवात्मा के धर्म नहीं हैं। जीव भगवान का सेवक है, इसीलिए कृष्णसेवा ही जीव का नित्यधर्म है। **'जीवेर स्वरूप हय कृष्णेर नित्यदास'** कर्मी और ज्ञानी दोनों ही स्वार्थी हैं, दोनों ही अपने सुख को लेकर व्यस्त हैं। वे लोग भगवान के भक्त नहीं हैं, बल्कि अभक्त हैं। इसीलिए भाग्यवान् सज्जन व्यक्ति कर्मी या ज्ञानी न होकर भगवान् के चरणकमलों का आश्रय करते हुए भक्तिपथ पर विचरण करते हैं।

प्रश्न 215—क्या श्रीकृष्णनामसंकीर्तन ही एकमात्र साधन है?

उत्तर—अवश्य ही। हरिभजन के अतिरिक्त जीव का अन्य कोई कर्तव्य नहीं है—इस बात को लोग किसी भी प्रकार से समझ नहीं पा रहे हैं। बालक हो, वृद्ध हो, युवा हो, स्त्री हो, पुरुष हो, धनी हो, दरिद्र हो, पण्डित हो, मूर्ख हो, पापी हो, पुण्यवान् हो, किसी भी अवस्था में रहे, उनके लिए दूसरी कोई साधन प्रणाली नहीं हैं, साधन—एकमात्र श्रीकृष्णनाम संकीर्तन है।

प्रश्न 216—सेवा क्या वस्तु है?

उत्तर—श्रीहरि के सेवकगण कहते हैं—हे जीव, तुम हरि की सेवा करो, और कुछ भी मत करो। हरिसेवा के नाम पर अपना इन्द्रियतर्पण नहीं करना, याद रखो—कृष्ण के इन्द्रियतर्पण का नाम ही सेवा है। तुम्हारे बहिर्मुख आत्मीय स्वजनों का सुख जिसमें हो, उसी प्रकार के कार्यों को करने का नाम सेवा नहीं हैं। उसे सेवा मानने पर तुम ठगे जाओगे। गृहसेवा को भगवत् सेवा मानकर भूल मत करना, भगवान का आश्रय लेकर माया की सेवा में अधिक समय नष्ट मत करो, उसमें तुम्हारा मंगल नहीं होगा, परन्तु दिन प्रतिदिन संसार में ही आसक्त हो जाओगे, भगवत् प्राप्ति नहीं होगी। भगवान् के लिए व्याकुल होओ, सब तो भगवान को पाओगे। 'उड़ती खील कृष्णाय नमः' कहने पर क्या कृष्ण सेवा होगी? कृष्ण को धोखा देने

पर स्वयं ही धोखा में पड़ जायेंगे। इसलिए कहता हूँ—चतुर होओ। सभी को धोखा देकर कृष्णसेवा करो। तभी अन्तर्यामी कृष्ण प्रसन्न होंगे।

[**टिप्पणीः**

उड़ती खील गोविन्दाय नमः

(श्रील प्रभुपाद के 'उपाख्याने उपदेश' से उद्धृत)

हरकान्त चक्रवर्ती गाँव में एक वैष्णव के रूप में प्रसिद्ध थे। गाँव के लोग कहते थे—"चक्रवर्ती महाशय भगवान को अर्पण किए बिना किसी भी वस्तु को छूते भी नहीं हैं।" पौष-संक्रांति के दिन श्री चक्रवर्ती महाशय बाजार से अपनी पत्नी के लिए कुछ खील खरीदकर ला रहे थे। रास्ते में अचानक तेज हवा के झोंके से उनकी कागज़ की थैली से खील उड़ने लगीं। उसी समय, उन्होंने अपने सामने कुछ परिचितों को देखा और "गोविन्दाय नमः" कहकर उड़ती हुई खील को भगवान गोविंद को अर्पित कर दिया। इस बीच, चक्रवर्ती महाशय की पत्नी ने उनकी वापसी में देरी देखी और अपने बेटे को पिता की खोज में भेजा। रास्ते में उस सीधे-सादे बालक ने अपने पिता को देखा और सबके सामने मासूमियत से घर की बात कह दी—"पिताजी, माँ खील खाने के इंतज़ार में है। खील कहाँ हैं?" चक्रवर्ती महाशय बहुत लज्जित हुए, क्योंकि बालक ने बाजार में सबके सामने उनकी पोल खोल दी थी।

जो लोग अपनी इन्द्रियों की तृप्ति में लिप्त रहते हैं, लेकिन समाज में धर्मपरायण व्यक्ति की प्रतिष्ठा प्राप्त करना चाहते हैं, उनकी ऐसी साधुता या धर्म का आडंबर केवल कपट और पाखंड है। खील तो अपने भोग के लिए लाई गई थी, लेकिन जब लगा कि अब उसे स्वयं नहीं भोगा जा सकता, तब उसे भगवान को अर्पित करने का ढोंग करना कोई सच्ची सेवा नहीं है। जब विषय-लोलुप लोग अपने श्रेष्ठ प्रयासों के बावजूद धन, जन आदि को नहीं बचा पाते, तो वे कहते हैं—"भगवान, सब कुछ आपका है; आप चाहो तो किसी की रक्षा कर सकते हो, और चाहो तो उसका अंत भी कर सकते हो।" यह शरणागति का वास्तविक लक्षण नहीं है। यह आचरण "उड़ती खील गोविन्दाय नमः" की तरह केवल कपट और पाखंड को दर्शाता है। यदि मन में कपट और पाखंड छिपा हो, तो भगवान कभी भी हमारी सेवा स्वीकार नहीं करेंगे।]

प्रश्न 217—क्या हरिभजन रहित जीवन व्यर्थ है?

उत्तर—अवश्य ही। खाने की कोई आवश्यकता नहीं है—पीने की कोई आवश्यकता नहीं है, यदि कृष्णभजन नहीं करता हूँ। देवदुर्लभ मनुष्य जन्म प्राप्तकर यदि कृष्णभजन ही नहीं हुआ, तब तो जन्म जन्मान्तर के लिए अत्यन्त असुविधा में ही पड़ना हुआ। **'कृष्ण भजिबार तरे संसारे आइनु। मिछे मायाय बद्ध हये वृक्षसम हैनु॥'** अर्थात् 'कृष्ण भजन करने के लिए संसार में आया। परन्तु झूठी माया में बँधकर वृक्ष के समान हो गया।'

पशु मनुष्य होते हैं हरिभजन करने के लिए परन्तु हम मनुष्य होकर भी यदि पशु के समान आहार-विहार में ही व्यस्त रहे—संसार में ही मत्त रहकर हरिभजन नहीं किया अथवा हरिभजन के नाम पर जैसा विषयी था, वैसा विषयी ही रहा, तब हमारा जीवन व्यर्थ ही बीत गया, मनुष्य जन्म पाकर कोई लाभ नहीं हुआ।

प्रश्न 218—क्या श्रीनामसंकीर्तन ही साधन-शिरोमणि है?

उत्तर—अवश्य ही। कलिकाल में श्रीनाम संकीर्तन सर्वश्रेष्ठ साधन तो है ही, परन्तु यही एकमात्र साधन है—एकमात्र साधन है—एकमात्र साधन है। कलिकाल में हरिनाम कीर्तन के अतिरिक्त जीव का अन्य कोई साधन भजन कुछ भी नहीं है, नहीं है, नहीं है। इस श्रीनामसंकीर्तन के माध्यम से सर्वार्थसिद्धि होगी। शास्त्र कहते हैं—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥
कलिकाले नामरूपे कृष्ण-अवतार।
नाम हैते हय सर्वजगत् निस्तार॥
दार्ढ्य लागि हरेर्नाम उक्ति तिनबार।
जड़ लोक बुझाइते पुनः एव-कार॥
केवल शब्दे पुनरपि निश्चयकरण।
कर्म-ज्ञान-योग-तप आदि निवारण॥
अन्यथा ये माने, तार नाहिक निस्तार।
नाहि, नाहि, नाहि—तिन उक्त एव-कार॥

अर्थात् हरिनाम, हरिनाम, केवल हरिनाम ही है, कलियुग में इसके अतिरिक्त अन्य कोई गति नहीं है, नहीं हैं, नहीं है। कलिकाल में श्रीकृष्ण का अवतार नामरूप में है, नाम से ही सम्पूर्ण जगत का उद्धार होता है। दृढ़ता के लिए 'हरेर्नाम' उक्ति की तीन बार पुनरावृत्ति की गयी है। जड़ जगत के लोगों को समझाने के लिए पुनः 'एव' का प्रयोग हुआ है। केवल शब्द में पुनः निश्चयकरण किया गया है और कर्म, ज्ञान, योग, तपस्या आदि का निवारण किया गया है। जो अन्यथा समझता है, उसका उद्धार असम्भव है। इसीलिए तीन बार 'नहीं, नहीं, नहीं' और 'एव' का प्रयोग हुआ है।

शास्त्रों ने और भी कहा है—

नाम बिना कलिकाले नाहि आर धर्म।
सर्वमन्त्रसार नाम—एइ शास्त्रमर्म ॥
भजनेर मध्ये श्रेष्ठ नवविधा भक्ति।
कृष्णप्रेम, कृष्ण दिते धरे महाशक्ति॥
तार मध्ये सर्वश्रेष्ठ नामसंकीर्तन।
निरपराधे नाम लैले पाय प्रेमधन॥

अर्थात् नाम के अतिरिक्त कलिकाल में कोई अन्य धर्म नहीं है। समस्त मन्त्रों का सार नाम है—यही शास्त्रमर्म है। भजन में नवधा भक्ति श्रेष्ठ है, जिसमें कृष्णप्रेम और कृष्ण को प्रदान करने में महाशक्ति हैं। नवधा भक्ति में सर्वश्रेष्ठ नामसंकीर्तन है। निरपराध होकर नाम ग्रहण करने पर प्रेमधन प्राप्त होता है।

64 प्रकार के भक्ति अंगों में श्रीनामसंकीर्तन की ही सर्वश्रेष्ठता है। नामसंकीर्तन द्वारा ही सर्वमंगल साधित होता है। नामसंकीर्तन में भक्ति के नौ के नौ अंग (श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि) आ जाते हैं। स्वयं भगवान श्रीगौरांगदेव की हार्दिक इच्छा यह हैं कि श्रीकृष्णकीर्तन ही एकमात्र अभिधेय है।

जो नामकीर्तन करते हैं, उनका समस्त प्रकार से मंगल होता है। तब एक बात है जो नामकीर्तन करेंगे, पहले उनको श्रवण करने की आवश्यकता है। श्रीकृष्णनाम संकीर्तन ही साधन शिरोमणि है। श्रीनामभजन में जीव की सर्वसिद्धि होती हैं। साधुसंग में नामकीर्तन के अतिरिक्त हमारा अन्य कोई कार्य नहीं है। श्रीमद्भागवत का प्रतिपाद्य विषय—श्रीनामसंकीर्तन है। जो मुक्त हो चुके हैं, उनके लिए भी नामसंकीर्तन के अतिरिक्त अन्य कर्तव्य नहीं है। जो मन्त्र उच्चारणकारी हैं, वे अपने को श्रीनाम के चरणकमलों में अर्पण करते हैं। जिस दिन मन्त्रसिद्धि होती है, उसी दिन से उसके मुख में सब समय हरिनाम नृत्य करने लगते हैं। जो कृष्णकीर्तन करते हैं, ऐसे मठवासी भक्तों की सेवा से विमुख होकर भजन का अभिनय करने पर मंगल नहीं होगा। श्रीमद्भागवत-पाठ गृहस्थ एवं मठवासी सभी के लिए आवश्यक है।

जिन-जिन वस्तुओं से हरिसेवा होती हैं, वे सब वस्तुएँ मठ में ही हैं। मठवासियों की सेवा करने पर ही श्रीनामसंकीर्तन में अधिकार प्राप्त होता है, श्रीनामभजन में रुचि बढ़ती है। किन्तु ऐसा न करके यदि हम बहिर्मुख आत्मीय स्वजनों की सेवा में ही लगे रहे, तो हरिनाम नहीं होगा।

हरि-गुरु-वैष्णवों की सेवा से उदासीन होकर यदि संसार की सेवा में ही व्यस्त रहे, तो कभी भी नामपरायण नहीं हो पायेंगे। हमें नामपरायण करने के लिए ही श्रीराधागोविन्द-मिलित-तनु गौरांगदेव इस जगत में आये थे। किन्तु यदि हम उनकी बात न सुनकर श्रीनाम की सेवा से उदासीन रहें, तो हमारा कभी भी मंगल नहीं होगा।

कृष्ण को प्राप्त करने का सबसे उत्कृष्ट साधन श्रीनामसंकीर्तन ही है। इसके अतिरिक्त अन्य साधन यदि कृष्णनाम संकीर्तन में सहायक हों, तभी उन्हें साधन कहा जायेगा, अन्यथा उन सभी साधनों को व्याघात समझना होगा।

श्रीकृष्णनामसंकीर्तन साधनसम्राट् है। सर्वसिद्धि प्राप्ति का एकमात्र अमोघ साधन वैकुण्ठनाम कीर्तन ही है। श्रीमन्महाप्रभु ने अर्चन की शिक्षा नहीं दीं है, बल्कि शिक्षाष्टक में उन्होंने श्रीनामभजन की ही शिक्षा प्रदान की

है।

भक्ति के अन्य अंगों का पालन करते समय भी मुख से श्रीनामसंकीर्तन करने की ही विधि है। **'यद्यपि अन्याभक्ति कलौ कर्तव्या तदा कीर्तनाख्या-भक्तिसंयोगेनैव कर्तव्या।'** कलियुग में कीर्तनाख्या भक्ति के साथ ही अन्यान्य भक्ति के अंगों का पालन करना होगा।

कृष्ण एवं कृष्णनाम दोनों पृथक् वस्तुएँ नहीं हैं। नाम ही कृष्ण हैं। कृष्ण ही नाम हैं एवं कृष्ण एवं कृष्णनाम अभिन्न हैं। कृष्णनाम ही नन्दनन्दन हैं, श्यामसुन्दर हैं। अतः कृष्णनाम संकीर्तन ही हमारे लिए एकमात्र अभिधेय या कर्तव्य है, ऐसा विचार करने पर ही हमारा मंगल होगा।

प्रश्न 219—श्रीकृष्ण-संकीर्तन किसे कहते हैं?

उत्तर—श्रीकृष्ण + संकीर्तन=श्री कृष्णसंकीर्तन। श्रीकृष्ण = श्री + कृष्णः, श्री लक्ष्मी अर्थात् समस्त लक्ष्मियों की अंशिनी श्रीमती गान्धर्वा (श्रीमती राधिकाजी) हैं। अतः श्रीकृष्ण कहने से गान्धर्वा के साथ (श्रीराधाजी के साथ) गिरिवर ब्रजेन्द्रनन्दन का पता चलता है। **बहुभिर्मिलित्वा यत्संकीर्तनं तदेव संकीर्तनम्** अर्थात् सभी लोग मिलकर जो कीर्तन करते हैं वही संकीर्तन है। अथवा सम्यक् कीर्तन का अर्थ है—संकीर्तन अर्थात् श्रीकृष्ण के नाम, रूप, गुण, परिकर वैशिष्ट्य एवं लीलाओं के कीर्तन का नाम ही संकीर्तन है।

प्रश्न 220—हमारा क्या प्रयोजन है?

उत्तर—कृष्णचन्द्र ही पूर्णतम परतत्त्व वस्तु हैं। कृष्ण सभी के नित्य सेव्य हैं। हमलोग कृष्ण के सेवक हैं तथा कृष्ण हमारे सेव्य हैं। अतः कृष्णसेवा एवं कृष्णप्रीति ही हमारा प्रयोजन है। चेतन (आत्मा) की वृत्ति प्रकाशित होने पर हम अच्छे प्रकार से समझ पायेंगे कि कृष्ण ही एकमात्र सेव्य वस्तु है और कृष्णसेवा ही हमारा एकमात्र कृत्य है। अन्यथा हमें संसार करते-करते ही मरना होगा। संसार को ही अपना उपास्य या सार मानने पर नरक जाना पड़ेगा।

आत्मा की अप्राकृत इन्द्रियों के द्वारा कृष्ण की सेवा करनी होगी, मन की कल्पना के प्रभाव से कृष्णसेवा नहीं होगी। सम्बन्धज्ञान या दिव्यज्ञान होना चाहिये। हमें यह अनुभव होना चाहिये कि जिसका ऐसा विचार है कि केवल कृष्ण ही आराध्य हैं, ऐसे भक्तों के अतिरिक्त हमारा आत्मीय नहीं है, तभी हमारा मंगल होगा। यदि हम दूसरों को अपना मानें अर्थात् स्त्री पुत्र कन्या आदि को अपना मानें तो समझना चाहिये कि हमें दिव्यज्ञान प्राप्त नहीं हुआ है, मन्त्र लेकर भी हम अन्धकार के अन्धकार में ही रह गये।

कृष्ण ही मेरे आराध्य या निजजन हैं, कृष्ण ही एकमात्र आत्मीय हैं—वैष्णवों का ऐसा ही ज्ञान होता है। यही प्रयोजन है। भोगवाञ्छामयी जड़प्रतिष्ठा या अनात्मीय को आत्मीय मानना उचित नहीं है।

मन के द्वारा भोग होता है। कृष्ण की सेवा हाड़-मांस के द्वारा नहीं

होती, चेतन के द्वारा होती हैं। सेवोन्मुख इन्द्रियों के द्वारा ही सेव्य कृष्ण की सेवा होती है।

प्रश्न 221—आनन्द क्या वस्तु है?

उत्तर—शास्त्र कहते हैं—**आनन्दं ब्रह्म। भूमैव सुखम्।** परब्रह्म श्रीकृष्ण ही आनन्द वस्तु हैं। उनमें पूर्णानन्द हैं, वे पूर्णानन्दविग्रह हैं। **ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्द विग्रहः।**

शास्त्र कहते हैं—**नाल्पे सुखमस्ति।** क्षुद्रवस्तु में सुख नहीं है। जड़ानन्द में पूर्णानन्द नहीं है, इसीलिए उससे आशा नहीं मिटती। वृहद्वस्तु या ब्रह्मवस्तु भगवान ही समस्त सुखों के मूल हैं। उन आनन्दमूर्ति कृष्ण की सेवा के द्वारा ही जीव पूर्ण आनन्द प्राप्त कर सकता है।

प्रश्न 222—क्या यह जगत जीव का भोग्य है?

उत्तर—कदापि नहीं। जगत तो जगदीश्वर का ही भोग्य या सेवा का उपकरण है। इसलिए उसके प्रति भोगबुद्धि करने पर अपराध होता है, जिसके फल से संसारी होकर सांसारिक ज्वाला में जलना पड़ता है। जब हम अपने स्वरूप को भूलकर नाना प्रकार के विचारों में आबद्ध होने के कारण भोगों की इच्छा करते हैं, तभी जड़ इन्द्रियों के द्वारा भोग करने की इच्छा हो जाती है। किन्तु हमारे लिए जानना उचित है कि प्रपञ्च जगत हमारे भोग की वस्तु नहीं भगवान की सेवा की वस्तु है। इसलिए भगवान की सेवा की वस्तु के प्रति भोगबुद्धि नहीं करनी चाहिए।

प्रश्न 223—क्या आत्मा भोग करती है?

उत्तर—आत्मा तो परमात्मा का सेवक है तथा कृष्ण की सेवा ही उसका धर्म या कार्य है। इसलिए भगवान की सेवा छोड़कर वह भोग करने क्यों आयेगी? आत्मा तो भोगी नहीं है, जो वह भोग के लिए व्यस्त होगी। आत्मा कभी भी भोग के लिए व्यस्त नहीं होती। वास्तव में मन ही भोक्ता के रूप में कार्य करता है। यह भोगवृत्ति ही आत्मा की वृत्ति को आवृत कर देती है।

प्रश्न 224—भगवान क्या वस्तु हैं?

उत्तर—भगवान सच्चिदानन्द विग्रह हैं। वे निराकार नहीं हैं। भगवान का हमारे जैसा जड़ देह नहीं है। भगवान में देह देही का भेद नहीं है—उनके नाम, रूप, गुण, लीला अभिन्न हैं।

भगवान स्वराट् वस्तु हैं। He does not require any other help. He may come down upon the scene of anybody as he pleases. भगवान किसी की सहायता की अपेक्षा नहीं रखते। वे पूर्ण निरपेक्ष हैं, पूर्ण स्वतन्त्र एवं स्वप्रकाश हैं। उनके चक्षु, कर्ण आदि इन्द्रियाँ जड़ नहीं हैं,

बल्कि चिन्मय एवं पूर्ण हैं।

प्रश्न 225—श्रीमद्भागवत क्या कहती हैं?

उत्तर—श्रीमद्भागवत कर्मकाण्ड का उपदेश नहीं देती। जिससे जीव का परममंगल हो, श्रीमद्भागवत भगवान की उन्हीं कथाओं का कीर्तन करती हैं। भागवत में परमधर्म शुद्धभक्ति की ही बात है। अतः भागवत को सुनना होगा, पढ़ना होगा और विचार करना होगा।

शुद्धज्ञान, शुद्धविराग एवं शुद्धभक्ति का एक ही तात्पर्य है। इसमें अपनी इन्द्रिय तृप्ति के बदले केवल भगवान की सेवा की ही बात है। सुख एवं दुःख दोनों ही भिन्न वस्तुएँ हैं। सुख के लिए ही घूमते रहने से दुःख ही प्राप्त होते हैं। अतः फल की आकांक्षा करना उचित नहीं है। कर्म काण्ड मुक्तपुरुषों का कृत्य नहीं है। कर्म का फल कभी अच्छा तो कभी बुरा होता है।

भागवत को छोड़कर अन्य ग्रन्थ का अध्ययन करने से कर्म-ज्ञानमार्ग, सुख-दुःख एवं जन्म-मृत्यु प्राप्त करने के लिए बाध्य होना पड़ता है। कर्मकाण्ड से धर्म, अर्थ, काम प्राप्त हो सकते हैं। मोक्षकामी भोगों का त्याग करने पर भी ईश्वर की उपासना नहीं करते। भक्त ही भगवान की उपासना करते हैं।

योग के द्वारा भगवान का भजन नहीं होता। इससे अणिमा, लघिमा आदि अष्टादश सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। मोक्षकामियों की मुक्ति की बात छोड़ ही दो, क्योंकि वे केवल संसार के दुःख-सुख से छुटकारा चाहते हैं। अतः उसमें भी अपना भोक्तापन है।

जिन्होंने कर्म, ज्ञान या योगमार्ग ग्रहण किया है—भागवत कहती हैं, कि उन्होंने गलत पथ का अवलम्बन किया है। भक्ति होने पर सहजरूप में ही सब कुछ पाया जाता है।

कर्मीलोग इस जीवन में और परजीवन में विषयभोग ही चाहते हैं

Bhakti is the eternal function of pure soul. If we regain our real position then we have the chance of dissociating ourselves from the world. भक्ति आत्मा की निर्मल वृत्ति है। यदि हम अपने प्रकृत स्वास्थ्य का पुनरुद्धार कर सकें, तभी इस पृथ्वी से अलग हो सकते हैं।

श्रील प्रभुपादका एक अलौकिक नियम यह था कि जब कोई शिष्य अथवा कोई भी व्यक्ति उन्हें प्रणाम करता, तो वे भी हाथ जोड़कर 'दासोऽस्मि' कहकर प्रतिनमस्कार करते। श्रीविनोदविहारी ब्रह्मचारी गुरुदेवका ऐसा व्यवहार देखकर सब समय छिपकर ही उन्हें प्रणाम करते थे। श्रील प्रभुपादका एक और भी अलौकिक व्यवहार यह था कि वे शिष्यों या दूसरोंको सर्वदा आदरसूचक 'आप' द्वारा सम्बोधन करते थे। किन्तु श्रीविनोदविहारीकी अन्तरङ्ग सेवासे सन्तुष्ट होकर इन्हें 'तू', 'तुई' आदि प्रिय शब्दोंसे सम्बोधन करते। प्रभुपादके शिष्योंमें ऐसा सौभाग्य दो-एक को ही प्राप्त था।

श्रील गौरकिशोरदास बाबाजी महाराजजीकी समाधिका स्थानान्तरण

सन १९३२ ई. की घटना है। भगवती भागीरथी आज उफनती हुई प्रवाहित हो रही थीं। चारों तरफ पानी-ही-पानी दीख रहा था। उसके प्रबलतर वेगसे पश्चिमी तट कट-कटकर उसके प्रवाहमें विलीन हो रहा था। श्रील प्रभुपादके परमाराध्य श्रीगुरुदेवकी समाधि नवद्वीपधामके अन्तर्गत गङ्गाके पश्चिमी तटपर अवस्थित थी। श्रील प्रभुपादने १९१५ ई. में उत्थान एकादशीके दिन स्वयं अपने हाथोंसे उनकी समाधि प्रदान की थी। जब श्रील प्रभुपादको यह पता चला कि उनके श्रीगुरुदेवकी समाधि गङ्गाके प्रवाहमें बह जानेवाली है, उसी समय उन्होंने अपने अन्तरङ्ग सेवक श्रीविनोदविहारी ब्रह्मचारीको निर्देश दिया कि किसी भी प्रकार उस समाधिको सम्पूर्ण रूपसे श्रीधाम मायापुरमें श्रीराधाकुण्डके तटपर लाया जाये और वहींपर उनकी पुनः प्रतिष्ठा की जाये। श्रीविनोदविहारी प्रभु अपने प्रिय सतीर्थ बन्धु श्रीपाद नरहरि सेवाविग्रह प्रभु तथा अन्यान्य गुरुसेवकोंकी सहायतासे कई दिनों तक दिन-रात अथक परिश्रमके पश्चात् उस समाधिको सुरक्षित अखण्ड रूपमें सङ्कीर्तनके साथ श्रीचैतन्य मठमें ले आये। श्रील प्रभुपाद बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने स्वयं अपने हाथोंसे राधाकुण्डके तटपर समाधि-स्थल खोदनेका कार्य आरम्भ किया।

श्रील सरस्वती प्रभुपाद जिस समय अपने श्रीगुरुदेव श्रील गौरकिशोरदास बाबाजी महाराजके अप्रकटलीलामें प्रवेश करनेपर उन्हें समाधिस्थ करने जा रहे थे, उस समय कुलियाके उच्छृंखल एवं दुर्नीतिपरायण बाबाजी लोग नाना प्रकारसे विघ्न-बाधा पहुँचाने लगे थे। किन्तु अन्तमें वे कुछ नहीं कर सके। श्रील प्रभुपादने गङ्गा तटपर कुलियामें ही इन्हें समाधि प्रदान की थी। उन बाबाजी लोगोंने इस बार भी समाधिको श्रीधाम मायापुरमें स्थानान्तरण करते समय घोर विरोध किया और बिघ्न-बाधाएँ पहुँचायीं। किन्तु इसे रोक नहीं सकनेपर कृष्णनगर कोर्ट में श्रीविनोदविहारी ब्रह्मचारीके नामसे समाधिको हटाने में प्रधान आसामीके रूपमें मुकदमा दायर कर दिया। यह मुकदमा एक ईसाई धर्मावलम्बी न्यायाधीशकी अदालतमें पेश हुआ। न्यायाधीशने इस केसको बड़ी गम्भीरतासे लिया। ईसाई धर्मके अनुसार किसी समाधिको उसके मूल स्थानसे हटाना एक अक्षम्य अपराध होता है और उसके लिए पाश्चात्य देशोंमें बड़ी कड़ी सजा होती है। न्यायाधीशने दोनों पक्षोंका तर्क-वितर्क सुनकर आसामीको कड़ी सजा देनेका मन बना लिया था। ऐसा देखकर ब्रह्मचारीजीने अन्तमें न्यायाधीशसे बड़ी गम्भीरतासे कहा—"महाशयजी! आपको मालूम होना चाहिये कि हमलोग ईसाई मतावलम्बी नहीं हैं। हमलोग भारतीय वैदिक रीति-नीति अपनानेवाले शुद्ध वैष्णव हैं। वैष्णवधर्मके अनुसार विशेष परिस्थितियोंमें विशेष कारणोंसे समाधिको स्थानान्तरित किया जा सकता है, इसके हजारों प्रमाण हैं।" यह सुनते ही न्यायाधीश महोदयका विचार बदल गया। उन्होंने श्रीविनोदविहारीके पक्षमें निर्णय दिया—"आसामीको बिना किसी आरोपके मुक्त किया जाता है।" श्रील प्रभुपाद सारी बातें सुनकर बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने श्रीगौड़ीय मठ-मिशनके सभी मामला-मुकदमोंका भार कृतिरत्न प्रभुके ऊपर सौंप दिया। यह कार्य साधारण लोगोंके लिए दुःसाध्य और असम्भव था।

श्रील प्रभुपाद जी की उपदेशावली

1. श्रीमन्महाप्रभु के शिक्षाष्टक में लिखित 'परं विजयते श्रीकृष्ण संकीर्तनम्'—ही गौड़ीय मठ का एकमात्र उपास्य है।

2. विषयविग्रह श्रीकृष्ण ही एकमात्र भोक्ता हैं, बाकी सब उनके भोग्य हैं।

3. हरिभजनकारी के अतिरिक्त सभी मूर्ख और आत्मघाती हैं।

4. सहनशीलता की शिक्षा प्राप्त करना मठवासी का एक प्रधान कर्त्तव्य है।

5. श्रीरूपानुग भक्तगण, अपनी शक्ति के प्रति कोई आस्था स्थापित न करके, मूल-कारण पर सारी महिमा का आरोप करते हैं।

6. श्रीहरिनाम-ग्रहण और भगवान् का साक्षात्कार, दोनों एक ही हैं।

7. जो पाँच मिशाल अथवा पंचदेवोपासना करते हैं, वे लोग, भगवान् की सेवा नहीं कर सकते।

8. मुद्रणालय की स्थापना, भक्तिग्रन्थों का प्रचार और नाम के प्रचार से ही, मायापुर की वास्तविक सेवा होगी।

9. सब परस्पर मिलकर तथा एक उद्देश्य लेकर, हरि-सेवा करे।

10. जहाँ हरिकथा हो, वहीं तीर्थ है।

11. हम लोग सत्कर्मी, कुकर्मी या ज्ञानी, अज्ञानी नहीं हैं। हम तो, निष्कपट—हरिजनों के पादत्राणवाही **'कीर्तनीयः सदा हरिः'**, मंत्र में दीक्षित हैं।

12. दूसरे के स्वभाव की निन्दा न करके अपना ही सुधार करना, यही मेरा उपदेश है।

13. श्रीमन्महाप्रभु की नीति के अन्दर क्षत्रियनीति, वैश्य, शुद्र और यवननीति नहीं दिखलाई पड़ती। उनके प्रचारित वाक्य से मालूम होता है कि उन्होंने ऋषिनीति का सर्वश्रेष्ठ शृंग (शिखर) अवलम्बन किया था। हम भी उसी पद का अनुसरण करके, ब्रह्मनीति भागवतधर्म का अवलम्बन करेंगे।

14. कृष्णविरह-कातर ब्रजवासियों की सेवा करना ही हमारा परम धर्म है।

15. महाभागवत, सर्वत्र गुरु दर्शन करता है; इसलिए महाभागवत ही एकमात्र जगद्गुरु है।

16. यदि श्रेयःपथ (नित्यकल्याणकारी मार्ग) चाहूँ तो असंख्य लोगों के विचारों का परित्याग करके, श्रौतवाणी का ही, श्रवण करूँगा।

17. श्रेयः (नित्यमंगलमय) वस्तु ही प्रिय होनी उचित है।

18. रूपानुगजन के दासत्व बिना, अन्तरंगभक्त की और कोई लालसा नहीं हैं।

19. वैष्णवगुरु की आज्ञा-पालन करने पर यदि मुझको 'दाम्भिक' होना पड़े, पशु होना पड़े और अनन्तकाल तक नरक में जाना पड़े तो मैं अनन्तकाल के लिए इस प्रकार के नरक में चला जाऊँगा। दुनियाँ के और सब लोगों के विचारों को श्रीगुरुपादपद्म की शक्ति से मुष्टिकाघात द्वारा

विदूरित करूँगा। मैं इतना बड़ा दाम्भिक हूँ।

20. निर्गुण–वस्तु का साक्षात्कार करने के लिए एकमात्र कान को छोड़कर और कोई उपाय नहीं है।

21. जिस क्षण हमारा रक्षाकर्ता नहीं रहेगा उसी क्षण हमारी निकटवर्तीनी सब वस्तुएँ शत्रु होकर हम पर आक्रमण करेंगी। सच्चे साधु की हरिकथा ही हमारी रक्षक है।

22. खुशामद करने वाला गुरु या प्रचारक नहीं होता।

23. पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि लाखों योनियों में रहना अच्छा है; तथापि कपट का आश्रय लेना अच्छा नहीं है। कपटरहित–व्यक्ति का ही मंगल होता है।

24. सरलता का दूसरा नाम ही वैष्णवता है, परमहंस वैष्णवदासगण सरल होते हैं, इसलिए वे ही सर्वोत्कृष्ट ब्राह्मण हैं।

25. जीव की बहिर्मुख रुचि को बदलना ही सर्वापेक्षा दयालु व्यक्तियों का एकमात्र कर्तव्य है। माया के जाल से एक जीव की रक्षा कर सको तो अनन्त कोटि अस्पताल बनाने की अपेक्षा उससे अनन्तगुण परोपकार का कार्य होगा।

26. गौड़ीय मठ का निःस्वार्थ—दयाशील प्रत्येक व्यक्ति इस मनुष्य समाज में से प्रत्येक व्यक्ति के चित्शरीर के पोषण के लिए दो सौ गैलन रक्त खर्च करने के लिए प्रस्तुत रहे।

27. गौड़ीय मठ के सेवकों के रात–दिन के परिश्रम से जो अर्थ संग्रह होता है, उसकी एक–एक पाई, जगत् का इन्द्रियतर्पण बन्द करके कृष्णइन्द्रियतर्पण की कथा में खर्च होता है।

28. जिनकी आत्मविद् के पास, स्वतः भगवत्सेवा की वृत्ति सब समय जाग्रत नहीं हुई, उन सब लोगों का संग कितना ही प्रीतियुक्त क्यों न हो, परित्याग करना चाहिए।

29. केवल आचाररहित प्रचार, कर्म के अन्तर्गत है।

30. भोगी के भोगों के लिए ईंधन जोड़ने और ज्ञानी के विषय से विदग्ध विचारों का अनुगमन करने के लिए, हमारे मठ की स्थापना नहीं हुई है। केवल एक–दो रुपयों से मठ का उपकार समझना हमारा लक्ष्य नहीं है। परन्तु यदि किसी का भी उपकार कर सको तो तभी वह व्यक्ति कृष्णसेवामय मठ की सेवा करेगा।

31. श्रीभक्तिविनोद ठाकुर जी ने 'श्रीनामहट्ट' के झाड़ूदाररूप से अपना परिचय देकर, आप्राकृतलीला को प्रकट किया है। यह ठीक है कि उनकी प्रपंच को मार्जन करने की इस सेवा के उपकरण के रूप में हमारे जैसे सैकड़ों लोगों द्वारा महाजनानुगमन एवं बहिर्मुख संग का परित्याग करने का कार्य, जगत् का अप्रिय होने पर भी, हम लोगों का वास्तविक कल्याण करेगा।

32. भगवान और भक्त की सेवा करने से ही गृहव्रत–धर्म क्षीण

होता है।

33. श्रीकृष्ण के अतिरिक्त विषय आदि का संग्रह करना ही हमारी मूल–व्याधि है।

34. हम लोग जगत् में लकड़ी, पत्थर के कारीगर बनने नहीं आये। हम तो श्रीचैतन्यदेव की वाणी के वाहकमात्र हैं।

35. हम लोग इस जगत् में अधिक दिन नहीं रहेंगे, हरिकीर्तन करते–करते हमारा देहपात होने से ही इस देह–धारण की सार्थकता होगी।

36. श्रीचैतन्यदेव के मनोऽभीष्ट संस्थापक, श्रीरूपगोस्वामीके चरण कमलों की धूलि ही हमारे जीवन की एकमात्र अभिलाषा की वस्तु है।

37. निर्भीक होकर जो निरपेक्ष सत्यकथा बोलता है, शत–शत जन्मों के बाद तथा शत–शत युगों के बाद भी कोई न कोई इसका निगूढ़ सत्य तत्त्व समझ सकता है। शत–शत गैलन रक्त खर्च न होने पर्यन्त एक व्यक्ति को भी सत्यकथा समझाई नहीं जा सकती।

38. जो लोग नित्यप्रति एक लाख नाम नहीं करते, उसके हाथ से भगवान कोई भी वस्तु ग्रहण नहीं करते।

39. अनर्थयुक्त अवस्था में श्रीराधाजी का दासी होने का सौभाग्यलाभ कभी नहीं होगा। जो लोग अनर्थयुक्त अनाधिकारी अवस्था में परमश्रेष्ठ सेविका श्रीराधारानी की अप्राकृत लीलाओं की आलोचना करते हैं, वे लोग इन्द्रियारामी, प्रच्छन्न–भोगी ओर प्राकृत सहजिया हैं।

40. श्रीनाम ग्रहण करते–करते अनर्थ निवृत्ति होने पर श्रीनाम के द्वारा ही रूप, गुण और लीला की अपने आप स्फूर्ति प्राप्त होगी। चेष्टा करके कृत्रिम भाव से रूप, गुण और लीला का स्मरण नहीं करना चाहिए।

41. दीक्षा का अभिनय करना और दिव्य ज्ञान प्राप्त करना एक नहीं है।

42. जो लोग भगवान की सेवा करते हैं, जगत में वे ही धन्य हैं। सभी असुविधाओं, कष्टों और दुःखों के रहने पर भी भगवानकी कथा श्रवण, कीर्तन और स्मरण करते रहना चाहिए।

43. श्रीगुरुदेव एकान्त रूप से भगवान के सेवक हैं। उनके प्रत्येक कार्य भगवद् सेवा के सर्वोत्तम आदर्श हैं, गुरुदेव के दर्शन में जब तक ऐसी दृष्टि नहीं होगी तब तक मेरी आँखों में बाधा की पट्टी लगी रहेगी। उनकी दया प्राप्त नहीं होने से, दिव्य ज्ञान प्राप्त नहीं होने से, हम गुरुपादपद्म की महिमा को समझ नहीं सकते हैं।

44. पैसा होने से ही भगवत सेवा होगी ऐसा नहीं; परन्तु हरिकथा–प्रचार एवं हरिसेवा के लिए निर्बन्धिनी मति, दृढ़ संकल्प एवं अकपट सेवामय प्राण रहने से ही भगवत सेवा कार्य होगा। तुम लोग पैसे के लिए चिन्ता मत करना। अर्थ या पैसे के द्वारा मठ आदि की रक्षा नहीं होती, परन्तु विषयों का स्वभाव ही ऐसा है, जो कि हरिसेवा में अयुक्त व्यक्ति को विषय–भोग में ही प्रमत्त करा देता है।

45. अनन्त जीवन वेदान्त पढ़ने से मुक्ति नहीं होगी। अनन्त काल नाक दबाकर जमीन से दस बीस हाथ ऊपर उठने पर भी मंगल नहीं होगा, परन्तु स्वयं भागवत स्वरूप भक्तों के मुख से श्रीमद्भागवत कथा श्रवण करने से संसार का मंगल निश्चित रूप से होगा।

श्रील प्रभुपादके विचारसे आदर्श गुरुसेवक

श्रीविनोदविहारी ब्रह्मचारी (जो श्रील भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराज का संन्यास के पूर्व का नाम है) बड़े ठाट-बाट के साथ रहते थे। बड़े ठाट-बाटके साथ रहते थे। जमींदारीकी सारी व्यवस्था सँभालते थे। मठ-मन्दिरकी सेवाके लिए आवश्यकता पड़नेपर कोर्ट-कचहरी तथा उच्च पदस्थ प्रशासकोंके साथ भी मिलते थे। उनका इस प्रकारका बाह्य जीवन देखकर कुछ अनभिज्ञ मठवासियोंकी यह धारणा थी कि वे केवल सांसारिक विषयोंमें ही निपुण हैं, भक्तिसे इनका कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। ये सदा-सर्वदा प्रजाओंके शासन, मामला-मुकदमा आदि वैषयिक कार्यों में लिप्त रहकर लोकसमाजमें ही सुपरिचित हैं। भक्तिके अङ्गोंको पालन करनेकी इन्हें फुर्सत नहीं। यह बात यहीं तक नहीं रही। दिल्ली गौड़ीय मठके कुछ ब्रह्मचारियोंने इस विषयमें श्रील प्रभुपादको एक लम्बा-चौड़ा पत्र भी दे दिया। श्रील प्रभुपाद उस पत्रको पाकर बड़े ही असन्तुष्ट हुए। उन्होंने साथ-ही-साथ बड़ी कठोर भाषामें उस पत्रका प्रतिवाद करते हुए लिखा कि **विनोदविहारी एक असाधारण गुरुनिष्ठासम्पन्न आदर्श वैष्णव है। वह भक्तिके गूढ़ और उच्च कोटिके सिद्धान्तोंमें पूर्ण पारङ्गत है। विशेषतः वेदान्तके गम्भीर विचारोंमें उसका प्रवेश है। उसमें भजनके प्रति अत्यधिक उत्साह, हरि-गुरु-वैष्णवकी प्रीतिके लिए अखिल चेष्टा-परायणता एवं सर्वस्व त्यागकी भावना है। साथ ही स्नेह, दया, शासन-क्षमता, संगठन-शक्ति तथा दायित्वपूर्ण कार्यों में सञ्चालन-शक्ति आदि असाधारण गुणोंका समावेश है।** जो लोग यह समझते हैं कि विनोदमें वैष्णवता नहीं है, मैं समझता हूँ कि ऐसा समझनेवालोंमें ही वैष्णवताका सम्पूर्ण अभाव है। जो लोग वैष्णवोंका आन्तरिक मर्म नहीं जानकर इनकी निन्दा करते हैं. उनका ध्वंस अनिवार्य है। इसे कोई भी रोक नहीं सकता।

श्रीपाद नरोत्तमानन्द ब्रह्मचारी उस समय दिल्ली गौड़ीय मठके एक प्रमुख सेवक थे। ये श्रीमद्भागवतके प्रसिद्ध वक्ता थे। श्रील प्रभुपादके प्रति इनकी अत्यन्त गम्भीर निष्ठा थी। सौभाग्यवश इन्होंने भी श्रील प्रभुपादके लिखे हुए पत्रको पढ़ा और तबसे श्रीविनोदविहारी ब्रह्मचारीके प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा उत्पन्न हो गयी। श्रील प्रभुपादके अप्रकटलीलामें प्रवेश करनेके बाद श्रीगौड़ीय मठको छोड़कर ये भी अपने सतीर्थ श्रीविनोदविहारी 'कृतिरत्न' प्रभु एवं श्रीनरहरि 'सेवाविग्रह' प्रभु आदिके साथ श्रीधाम नवद्वीपमें चले आये तथा श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिमें रहकर साधन-भजन एवं भारतके विभिन्न स्थानोंमें शुद्धभक्तिका प्रचार करते रहे। उसी समय प्रसङ्गवशतः इन्होंने श्रील प्रभुपाद द्वारा दिल्ली गौड़ीय मठके ब्रह्मचारियोंके लिए लिखे हुए पत्रके सम्बन्धमें अस्मदीय गुरुपादपद्मके निकट रहस्योदघाटन किया।

श्रीलप्रभुपाद–दशकम्

(श्रील भक्तिरक्षक–श्रीधर गोस्वामी महाराज–विरचितम्)

सुजनार्बुदराधितपादयुगं युगधर्मधुरन्धर पात्रवरम्।
वरदाभयदायक–पूज्यपदं प्रणमामि सदा प्रभुपादम्॥१॥

मैं कोटि–कोटि सज्जनोंके द्वारा आराधित, कृष्ण सङ्कीर्तन युग–धर्मके संस्थापक, विश्ववैष्णव राजसभाके पात्रराज अर्थात् अधिकारीवर्गमें श्रेष्ठतम, निखिल जीवोंके भय दूर करनेवालोंकी भी मनोकामना पूर्ण करनेवाले, सर्वपूज्य उन श्रील प्रभुपादके श्रीचरणकमलोंमें सदा–सर्वदा प्रणाम करता हूँ॥१॥

भजनोर्जितसज्जनसंघपतिं पतिताधिककारुणिकैकगतिम्।
गतिवञ्चितवञ्चकाचिन्त्यपदं प्रणमामि सदा प्रभुपादपदम्॥२॥

जो भजन–सम्पन्न सज्जन–वृन्दोंके अधिपति हैं, जो पतितजनोंके प्रति अति करुणामय तथा उनकी एकमात्र गति हैं एवं जो वञ्चकोंके भी वञ्चक हैं, मैं उन श्रीलप्रभुपादके अचिन्त्य चरणकमलोंमें सदा–सर्वदा प्रणाम करता हूँ॥२॥

अतिकोमलकाञ्चनदीर्घतनुं तनुनिन्दितहेममृणालमदम्।
मदनार्बुदवन्दितचन्द्रपदं प्रणमामि सदा प्रभुपादपदम्॥३॥

अतिकोमल काञ्चनवर्णवाले सुदीर्घ तनु जिसके द्वारा स्वर्णमय कमलनालोंकी मत्तता (सौन्दर्य) भी निन्दित होती है, जिन नख–चन्द्रोंकी वन्दना कोटि–कोटि कामदेव करते हैं, मैं उन श्रीलप्रभुपादके चरणकमलोंमें सदा–सर्वदा प्रणाम करता हूँ॥३॥।

निजसेवकतारकरञ्जिविधुं विधूताहितहुङ्कृतसिंहवरम्।
वरणागतबालिश–शन्दपदं प्रणमामि सदा प्रभुपादपदम्॥४॥

जो नक्षत्र–मण्डलको रंजित करनेवाले चन्द्रकी तरह सेवक–मण्डली द्वारा परिवेष्टित होकर उनके चित्तको प्रफुल्लित रखते हैं, भक्तिविद्वेषिजन जिनके सिंहनादसे भयभीत रहते हैं एवं निरीह व्यक्ति जिनके चरणकमलोंका आश्रय ग्रहणकर परम कल्याण लाभ करते हैं, मैं उन श्रीलप्रभुपादके चरणकमलोंमें सदा–सर्वदा प्रणाम करता हूँ॥४॥

विपुलीकृतवैभवगौरभुवं भुवनेषु विकीर्तित गौरदयम्।
दयनीयगणार्पित–गौरपदं प्रणमामि सदा प्रभुपादपदम्॥५॥

जिन्होंने श्रीगौरधामका (श्रीनवद्वीपधामका) विपुल ऐश्वर्य प्रकटित किया है, जिन्होंने श्रीगौराङ्गदेवकी महोदारताकी कथाओंका सम्पूर्ण विश्वमें प्रचार किया है एवं जिन्होंने अपने कृपापात्रोंके हृदयमें श्रीगौरपादपद्मकी स्थापना की है, मैं उन श्रीलप्रभुपादके चरणकमलोंमें सदा–सर्वदा प्रणाम करता हूँ॥५॥

चिरगौरजनाश्रयविश्वगुरुं गुरु–गौरकिशोरक–दास्यपरम्।
परमादृतभक्तिविनोदपदं प्रणमामि सदा प्रभुपादपदम्॥६॥

जो चैतन्यमहाप्रभुके आश्रितजनोंके नित्य आश्रयस्थल और जगद्‌गुरु हैं, जो अपने गुरु श्रीगौरकिशोरके सेवापरायण हैं एवं जो श्रीभक्तिविनोद ठाकुरके सम्बन्धमात्रसे ही परम आदरयुक्त हैं, मैं उन श्रीलप्रभुपादके चरणकमलोंमें सदा–सर्वदा प्रणाम करता हूँ॥६॥

रघुरूपसनातनकीर्तिधरं धरणीतलकीर्त्तितजीवकविम्।
कविराज नरोत्तमसख्यपदमं प्रणमामि सदा प्रभुपादपदम्॥७॥

जो श्रीरूप, सनातन और रघुनाथके कीर्तिरूपी झण्डेका उत्तोलनकर विराजमान हैं, अनेक लोग इस धरणीतलपर जिन्हें पाण्डित्य–प्रतिभामय जीव गोस्वामीसे अभिन्न तनु कहकर उनकी प्रशंसा किया करते हैं एवं जिनका श्रीलकृष्णदास कविराज तथा ठाकुर नरोत्तमसे सख्यभाव है, मैं उन श्रीलप्रभुपादके चरणकमलोंमें सदा–सर्वदा प्रणाम करता हूँ॥७॥।

कृपया हरिकीर्त्तनमूर्तिधरं धरणीभरहारक–गौरजनम्।
जनकाधिकवत्सल स्निग्धपदं प्रणमामि सदा प्रभुपादपदम्॥८॥

जीवोंके प्रति असीम कृपाकर जो मूर्त्तिमान हरिकीर्तनरूपमें प्रकाशित हैं, जो धरणीके पापभारको दूर करनेवाले गौरपार्षद हैं एवं जो जीवोंके प्रति पितासे भी अधिक वात्सल्यके सुकोमल आकरस्वरूप हैं, मैं उन श्रीलप्रभुपादके चरणकमलोंमें सदा–सर्वदा प्रणाम करता हूँ॥८॥

शरणागतकिङ्करकल्पतरुं तरुधिक्कृतधीरवदान्यवरम्।
वरदेन्द्रगणार्चितदिव्यपदं प्रणमामि सदा प्रभुपादपदम्॥९॥

शरणागत किङ्करोंके लिए (अभीष्ट प्रदान करनेमें) जो कल्पतरुके समान हैं, जिनकी सहिष्णुता और उदारता वृक्षोंको भी लज्जित करती हैं एवं वरदाताओंमें श्रेष्ठ व्यक्ति भी जिनके दिव्य श्रीचरणकमलोंकी पूजा किया करते हैं, मैं उन श्रीलप्रभुपादके चरणकमलोंमें सदा–सर्वदा प्रणाम करता हूँ॥९॥

परहंसवरं परमार्थपतिं पतितोद्धरणे कृतवेशयतिम्।
यतिराजगणैः परिसेव्यपदं प्रणमामि सदा प्रभुपादम्॥१०॥

जो परमहंसकुलके चूड़ामणि हैं, जो परम पुरुषार्थ श्रीकृष्णप्रेम–सम्पत्तिके मालिक हैं, पतित जीवोंके उद्धारके लिए जिन्होंने संन्यासीका वेश धारण किया है एवं श्रेष्ठ त्रिदण्डि संन्यासियोंका समूह जिनके पादपद्मोंकी सेवा करता है, मैं उन श्रीलप्रभुपादके चरणकमलोंमें सदा–सर्वदा प्रणाम करता हूँ॥ १०॥

वृषभानुसुतादयितानुचरं चरणाश्रित रेणुधरस्तमहम्।
महदद्भुतपावनशक्तिपदं प्रणमामि सदा प्रभुपादम्॥११॥

जो वृषभानुनन्दिनीके परमप्रिय अनुचर हैं, जिनकी चरण–रजको मैं अपने मस्तकपर धारण करनेके सौभाग्यके लिए अभिमान करता हूँ, उन अद्भुत पावनीशक्तिसम्पन्न श्रीलप्रभुपादके चरणकमलोंमें मैं सदा–सर्वदा प्रणाम करता हूँ॥११॥